बदलता परिवेश और नारी का आत्म-संघर्ष

"संदर्भः शेष कादम्बरी"

एम० फिल० (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

लघु शोध–प्रबंध

शोध निर्देशक

डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोध छात्र

पंकज कुमार

2004

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURAL STUDIES
NEW DELHI-110067

Dated : 26/07/04

DECLARATION

I declare that the material in this Dissertation entitled "***BADALATA PARIVESH AUR NAREE KA AATM-SANGHARSH, SANDARBH : SHESH KADAMBARI***" submitted by me is an original research work and has not been previously submitted for any other Degree of this or any other University/Institution.

(PANKAJ KUMAR)
RESEARCH SCHOLAR

(Dr. PURUSHOTTAM AGARWAL)
SUPERVISOR
CIL/SLL & CS/JNU

(Prof. NASSER AHMED KHAN)
CHAIRPERSON
CIL/SLL & CS/JNU

समर्पण

माई (दादी) एवं बाबा को

अपनी बात

'आत्म' और 'अन्य' के रूप में विभाजित किसी भी समाज में उत्पीड़न एक ऐतिहासिक वास्तविकता है। वर्चस्वपरक राजनीति द्वारा कुछ समुदाय, धर्म, प्रजाति, लिंग, नस्ल आदि के लोग अपनी अस्मिता के कारण समाज के स्थायी प्रतिपक्ष के रूप में चिन्हित कर दिए गए हैं। स्त्रियाँ भी उनमें से एक हैं। किसी कवि के शब्दों में–

'बड़ा था तो क्या, था तो आंगन ही
छत नहीं थी गनीमत, वरना इतना सा आकाश भी
मेरे हिस्से में न होता।

आकाश था तो क्या, पंख नहीं थे
थे तो दो पाँव ही, जितनी सी भूमि पर टिके थे
उतनी भर मेरी थी।'

ऐसी स्थिति में स्त्रियाँ यदि आज 'अपने होने का अर्थ' या अपना अस्तित्व ढूंढ़ रही हैं तो इसको एक सराहनीय प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए क्योंकि–

'आँखें तब देखती हैं आकाश
जब दीवारों के पार नहीं देख पाती।'

दीवारों के पार देखने की स्त्री की यह हसरत अतीत के उत्पीड़न की स्मृतियों से उपजी है। कहना न होगा कि पहचान की कोई भी राजनीति स्मृति के बिना संभव नहीं है क्योंकि अस्मिता का अनिवार्य संबंध स्मृति से है। दूसरे उत्पीड़न का जितना संबंध श्रम के दोहन से है उतना ही या उससे भी अधिक उसका सांस्कृतिक पक्ष महत्वपूर्ण है। आर्थिक स्वनिर्भरता से यदि उत्पीड़न की समाप्ति संभव होती तो शायद बहुत से कामगार वर्गों को आरक्षण जैसे सहारे की आवश्यकता न पड़ती किंतु सांस्कृतिक अस्मिता के धरातल पर तिरस्कृत और उत्पीड़ित होने का ही दुष्परिणाम है कि आज भी बहुत सी जातियाँ, वर्ग, लिंग, नस्ल आदि सांस्कृतिक स्वत्व की तलाश में जूझ रहें हैं। भारतीय संदर्भ में स्त्री के पक्ष में सकारात्मक बात यह है कि भले ही आध्यात्मिक धरातल पर ही सही स्त्रियाँ अपने यहाँ कुछेक अपवादों को छोड़कर नकारात्मक तत्वों की प्रतीक नहीं रही है। शायद इसी का असर है कि विधायिकाओं में महिलाओं को आरक्षण दिए जाने के मुद्दे पर वैसा प्रतिरोध नहीं देखा गया जैसा मंडल कमीशन द्वारा पिछड़ी व शोषित जातियों को आरक्षण दिए जाने पर किया गया था। यह अलग बात है कि व्यवहारिकता में आज भी स्थानीय स्तर पर विधायी सभाएँ प्रधान –पतियों' प्रधान 'पुत्रों' से ही भरी रहती हैं।

गहरी विडम्बना है कि स्त्री द्वारा अपने स्वत्व की तलाश को सामाजिक अस्मिता के प्रवक्ताओं, प्रतिनिधियों और सत्ताधारियों द्वारा 'अनुभूति की प्रामाणिकता' की आड़ में ऐसा जामा पहनाया जा रहा है जो प्रतीकों, रीति'रिवाजों, समकालीन अनुभवों और ऐतिहासिक स्मृतियों के साझेपन से पूरी तरह अलग हो। इन 'नुमाइन्दों' द्वारा एक ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था विकसित करने की कोशिश की जा रही है जिसमें उनकी नुमाइन्दगी शाश्वत हो और किसी तरह के पड़ताल या नैतिक मूल्यांकन से परे हो। अकारण नहीं है कि 'वे' अतीत के उत्पीड़न की स्मृतियों को बार–बार कुरेद कर 'उत्पीड़न ग्रंथि' को स्थायित्व प्रदान करने का काम कर रहे हैं। उनकी आकांक्षा मनुष्य की अनेकोन्मुखी भूमिका को स्वीकार करने के बरक्स उसकी एकांगी भूमिका को मुख्य बनाकर चली आ रही पित्सत्तात्मक व्यवस्था के समान और लगभग उसी तरह के तर्कों पर आधारित एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तावित करने की है जिसके 'कल्पित समुदाय' **(Imagined community)** में पुरुष की स्थिति एक शाश्वत खलनायक की ही रहे। वस्तुतः रेडिकल राजनीति का यह संकीर्णतावादी विमर्श उन्हीं मूल्यों व तर्कों का पैरोकार बन गया है जिसका विरोध इसकी उत्पत्ति के मूल में था।

ऐसे दौर में अलका सरावगी का दूसरा उपन्यास 'शेष कांदबरी' प्रेम और संवाद पर आधारित ऐसे मूल्यों का प्रतिनिधित्व करने के कारण हमें आश्वस्त करता है, जिसमें विभिन्न परंपराओं, संस्कृतियों और अनुभवों के बीच सार्थक संबंध एवं संवाद स्थापित करने की भरपूर गुंजाइश हो। स्त्री और पुरुष के बीच शाश्वत बैर खोजने के बरक्स यह उपन्यास उनके बीच पारस्परिक समझदारी और साझेदारी की भावना की तलाश करता है। अतीत के उत्पीड़न की स्मृतियों के कारण के रूप में पुरुष पर दोषारोपण करने की बजाय यह स्वयं स्त्री द्वारा आत्मालोचन और आत्मनिरीक्षण का सवाल उठाता है। अस्मिता का साम्राज्यवाद स्थापित करने की जगह यह एक ऐसे संवादधर्मी समाज की परिकल्पना करता है जहाँ स्त्री व पुरुष दोनों एक दूसरे को प्रेरणा व संबल दें। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि स्त्री के प्रति शारीरिक व भाषिक आक्रमण में पुरुष सदियों से आगे रहा है और उसके द्वारा निर्मित व्यवस्था में स्त्री के संघर्ष, उसकी मेधा एवं उसकी आत्मा के बरक्स उसकी देह ही महत्वपूर्ण रही है। इस वस्तुस्थिति में अब भी कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं आया है किंतु 'आत्म' की बढ़ती चेतना और सजगता से स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है। 'शेष कादम्बरी' अपने औपन्यासिक परिदृश्य में इन्हीं समस्याओं व संभावनाओं से जुड़ता है। यहाँ प्रतिरोधपरक अस्मिता के प्रतिशोधपरक अस्मिता में रूपांतरण की बजाय पुरुष और स्त्री दोनों के साहचर्य पर आधारित ऐसे संतुलित संबंध का अवकाश सुलभ कराया गया है, जहाँ व्यवहारिक धरातल पर भी स्त्री को आत्मचेतस सामाजिक इकाई का दर्जा हासिल हो और स्त्री को उसके नैसर्गिक वैशिष्ट्य के साथ समान नागरिक स्वीकृति अपनी देह और अपनी किस्मत पर खुद उसका अधिकार हासिल हो। बहरहाल, इस

शोध ग्रंथ में मुझसे खुद यह संतुलन कहाँ तक कायम रह पाया है, कह नहीं सकता। पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि जहाँ भी मुझसे यह संतुलन डगमगाया है, डा० अग्रवाल और सुमन जी के व्यक्तित्व और कृतित्व ने मुझे प्रेरणा दी है।

इस शोध ग्रंथ के पहले अध्याय में स्त्री और स्त्री–विमर्श से जुड़े मुद्दे व बहसें, हिंदी साहित्य में स्त्री–विमर्श का विकास और इस विमर्श में 'शेष कादम्बरी' की स्थिति का विश्लेषण है। दूसरे अध्याय में देवीदत्त की विचारधारात्मक अवस्थिति के बहाने बीसवीं सदी के भारत में सिद्धांतों/विचारधाराओं और इतिहास निर्माण की प्रक्रिया को समझने का उद्यम है। स्पष्ट करना आवश्यक है कि यहाँ इन सिद्धांतों/विचारधाराओं के मूल्यांकन का कतई कोई प्रयास नहीं है बल्कि शोध निर्देशक डा० अग्रवाल के निर्देशन में अर्जित 'दृष्टि' के माध्यम से इनकी खूबियों और खमियों को समझना मेरा अभीष्ट रहा है। तीसरे और अंतिम अध्याय में 'शेष कादंबरी' के कथ्य और प्रविधि के अन्तरसंबंध को रूपायित किया गया है।

समूची शोध–प्रक्रिया के दौरान मेरे शोध–निर्देशक डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल के मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन ने मुझे अनेकविधि विषय की उलझनों व गुत्थियों से उबारा। एक विद्यार्थी के तौर पर मुझे डा० अग्रवाल की सारग्राही विद्वता, मुखर प्रतिभा और अनेकयामी व्यक्तित्व शुरू से ही प्रभावित करता रहा है। जाहिर है उनके स्नेहिल संरक्षण से यह प्रभाव और भी बढ़ गया है। इस शोध–ग्रंथ में जो कुछ भी अच्छा बन पड़ा है उसका श्रेय डा० अग्रवाल को ही है और त्रुटियाँ मेरी हैं जिसका क्रमशः परिष्कार करना विद्यार्थी होने के नाते में मेरा दायित्व है।

यह शोध–ग्रंथ लिखने के क्रम में जिन लोगों की सदिच्छाएँ मुझे प्रेरित करती रही हैं, उनमें परिवारजनों की आत्मीयता और स्नेह को व्यक्त करने की शब्द–सामर्थ्य कम से कम मुझमें नहीं है। शायद यहाँ अव्यक्त रहकर ही मैं कुछ अधिक कह सकता हूँ। इसके साथ ही भूषण जी, सरवर भाई और शिवानंद जी से मिले भावनात्मक सहयोग का आभार प्रकट कर मैं कोई औपचारिकता नहीं निभाना चाहता हूँ। अभिषेक और संजय की बातों को बर्दाश्त करने से शोध के मंतव्यों और निष्कर्षों पर पड़े असर से भी मैं बच नहीं पाया हूँ। आनंद ने अपने नाम को सार्थक करने वाले स्वभाव से और रामेंद्र ने शोध–सामग्री (पुस्तकें व लेख) के संचयन में सहयोग देकर मुझे व्यर्थ की भाग–दौड़ से राहत दी है। प्रदीप, ऋषभ और शरद की परिहास–वृत्ति इस शोध–प्रक्रिया के दौरान मुझे निरंतर प्रेरित व उत्साहित करती रही है।

अंत में गौरव को त्रुटिहीन टाइपिंग के लिए धन्यवाद।

पंकज कुमार

विषय–सूची

पृष्ठ संख्या

अपनी बात **i-iii**

अध्याय–एक : 1–39

"आधी दुनिया का सच"

अध्याय–दो : 40–58

"इतिहास में किस्सागोई और किस्सागोई में इतिहास"

अध्याय–तीन : 59–70

"कथ्य और प्रविधि का खिलंदड़पन"

और अन्त में 71–72

संदर्भ और सहायक ग्रन्थ 73–77

अध्याय – एक

"आधी दुनिया का सच"

(क) स्त्री –विमर्श : बहस व मुद्दे

(ख) हिंदी साहित्य में स्त्री–विमर्श

(ग) इस बहस में शेष कादम्बरी'

(क) स्त्री –विमर्श : बहस व मुद्दे

मैं 'सच' कहूँगी मगर फिर भी हार जाऊँगी।
वो 'झूठ' बोलेगा और लाजवाब कर देगा।

परवीन शाकिर का यह शेर एक स्त्री का अपने समानधर्मा पर टिप्पणी है। 'लाजवाब' करने की कला सदियों से पुरुष विरासत का हिस्सा रही है। उस काल में भी जब यायावरी वृत्ति उसका पेशा था और आज भी, जब तमाम तरह के भौतिक संसाधन उसके पास उपलब्ध हैं। शीरीं इबादी (ईरान) को नोबेल पुरस्कार और 'द्विखंडितों' (तस्लीमा नसरीन की नवीन आत्मकथात्मक पुस्तक) पर प्रतिबंध इसी गड़बलझाले के साधनमात्र हैं। सिद्धांत और व्यवहार की यह फाँक बढ़ती ही जा रही है।

स्त्री की मानसिक गुलामी की सतत प्रक्रिया 'यायावरी युग' से ही आरंभ हो जाती है, जब स्त्री को उसकी नैसर्गिक बनावट के आधार पर सिर्फ प्रजनन योग्य घोषित कर दिया जाता है और उसके भरण–पोषण का दायित्व पुरुष स्वयं अपने कंधों पर लेता है। समयान्तराल में 'कृषि युग' तक आते–आते स्त्री की प्रतिष्ठा मानवश्रम उत्पन्न करने के कारण बढ़ती है। संभव है कि दूर से देखने में यह बात स्त्री का हितसाधन करती दिखाई दे, किंतु असलियत यह है कि उस समय तक शारीरिक समागम और संतानोत्पत्ति के संबंध की अज्ञानता के कारण प्रकृति की तरह स्त्री को भी जीवनदायिनी रहस्यमयी शक्ति के रूप में देखा जाता था। प्रजनन संबंधी इसी रहस्यमयता के कारण "कभी पुरुष ने उसे देवी माना, तो कभी दानवी। वह प्रकट हुई पहाड़ों में, वन प्रदेशों में बहती रही झरनों में हर जगह उसने जन्म दिया, उसी ने विनाश भी किया। मनमानी वैभवशालिनी प्रकृति की तरह क्रूर वह स्त्री एक ही साथ मांगलिक और अशुभ दोनों थी। कभी वह दुर्गा बनी, कभी काली। पूरे पश्चिम एशिया में वह भिन्न–भिन्न नामों से पूजी गई। बेबीलोन में वह इस्तर कहलायी, सामी लोगों में अस्ताते और गाइया, रिया और सिबिल कहलाई ग्रीक सभ्यता में। इजिप्ट में उसको आइसिस कहकर संबोधित किया गया। पुरुष देव उसके अधीनस्थ थे।"[1] वैदिक युगीन ऋग्वेद के ऋचा–गीतों में जो स्त्री वंदना के स्वर मिलते हैं, वे उसी काल के हैं। यह युग मातृसत्तात्मक था। एंगेल्स के अनुसार "मातृसत्ता से पितृसत्तात्मक समाज का अवतरण वास्तव में औरत जाति की सबसे बड़ी हार थी।"[2] वास्तव में स्त्री के लिए यह तथाकथित स्वर्णयुग मिथक के सिवा कुछ नहीं था। समाज उस समय भी पुरुष का था और राजनीतिक शक्ति तथा अर्थोपार्जन के साधन भी। लेविस त्रास के इस कथन–कि "आदिम समाज से आज तक स्त्री

को हमेशा पुरुष के संरक्षण में रहना पड़ा है।''[3] की सत्यता और प्रमाणिकता की पुष्टि 'वशिष्ठ धर्म सूत्र' का यह श्लोक भी करता है :

पिता रक्षति कौमारे, भ्राता रक्षति यौवने।
रक्षति स्थविरे पुत्रा, न स्त्री स्वातंत्रमर्हित।।

समाज स्थापना के क्रम में विवाह जैसी व्यवस्था गठित की गई, जिसमें संबंधों का निर्णायक पुरुष ही होता था और स्त्री सिर्फ 'खूँटे से बँधी गाय' थी। यह व्यवस्था पुरुष द्वारा उसका वंश चलाने और उसके पौरुष का औचित्य सिद्ध करने हेतु थी। उत्पादक क्षमता के कारण जोरु और जमीन दोनों की पूजा का विधान पुरुष ने किया। स्त्री निरपेक्ष रूप से मंदिर में स्थापित देवी की मूर्ति तो हो गयी, किंतु मानव–जीवन उसे सुलभ न हो सका। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में प्रकृति और स्त्री के प्रति जो भय पुरुष के मन में था, उसमें से स्त्री के प्रति भय में कमी आती गई। इसी अनुपात में स्त्री का अवमूल्यन बढ़ता गया। इसकी परिणति सीमोन द बोउवार के शब्दों में– ''अब जन्मा पुरुष की सृजनात्मकता का सिद्धांत, उसकी मेधा और बुद्धि, उसके बनाए हुए नियमों का सिलसिला। मातृदेवी के साथ अब पितृदेव को भी सम्मिलित किया गया। वह भी उर्वरक बना, नये प्रतीक जन्मे। देवी–देवताओं के नये जोड़े सबसे पहले क्रीट में, उसके बाद भूमध्य सागर किनारे इजिप्ट में आइसिस और होरेस तथा फिनीशिाया में एस्ताते तथा एडोनिस, एशिया माइनर में साइबल और अत्तिस तथा ग्रीक में रिया और जीयस।''[4] बाद में चलकर पुरुष देवताओं की ही सर्वोच्चता कायम हो गई। ''इजिप्ट में समस्त देवी–देवताओं में सर्वोपरि स्थान मिला सूर्य देवता को जो रोशनी तथा ओजस्विता का प्रतीक था, जिसके तेज के बिना दुनिया अंधेरी थी। ग्रीक देवता पुरुष प्रधान थे, वैदिक देवताओं की पत्नियाँ देवियाँ थी, रोम में ज्यूपिटर के बराबर कोई नहीं था।''[5]

सभ्यता के विकास में समाज की और समाज के विकास में धर्म की विशिष्ट भूमिका होती है। इसलिए धर्मग्रंथों का स्त्रियों के बारे में दृष्टिकोण, समाज में उनकी स्थिति के मूल्यांकन में काफी सहायक हो सकता है। सर्वप्रथम, वैदिक व वैदिकोत्तर साहित्य पर दृष्टिपात करें तो यह कहा जा सकता है कि ज्यों–ज्यों हम वेदों से ब्राह्मण ग्रंथों की ओर बढ़ते हैं, त्यों–त्यों स्त्री की स्थिति दयनीय होती जाती है। कुछेक कथनों को उद्धृत करना यहाँ समीचीन होगा। मसलन, 'बोधायन धर्मसूत्र' के अनुसार ''जो स्त्री कन्या संतान को जन्म देती है, उसे बारह वर्ष बाद; जिस स्त्री के बच्चे जीवित नहीं रहते, उसे पन्द्रह वर्ष बाद और कलह परायण–झगड़ालू स्त्री को तुरंत त्यागा जा सकता है।''[6] 'शतपथ ब्राह्मण' कहता है: ''यज्ञ करते हुए किसी कुत्ते, शूद्र और नारी की तरफ मत देखो।''[7] 'तैन्तरीय संहिता' में कहा गया है कि ''सर्वगुण सम्पन्न श्रेष्ठ नारी भी अधम पुरुष से हीन है।''[8] यह कथन भिन्न संदर्भ

में कुछ वैसा ही है जैसे – पंतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रोऽपि जितेंद्रियः। अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ 'मनुसंहिता' स्त्री को एक ऐसी वस्तु मानती है, जिसे बंधनों में रखा जाना चाहिए। अब ज़रा लौकिक साहित्य–'रामायण' पर विचार करें। 'रावण वध' के पश्चात् राम ने सीता से कहा – ''क्या कोई अच्छे वंश में जन्मा तेजस्वी पुरुष ऐसी नारी को, जो दूसरे के घर में रहकर आयी हो, मैत्री के लोभ में पुनर्बार ग्रहण करेगा ? रावण की अंककलंकिता तथा उसकी दुष्टदृष्टि से दूषिता तुम जैसी नारी को मैं अपने महान वंश को दूषित कर किस प्रकार तुम्हें दूसरी बार ग्रहण करुँगा ? जिस कारण मैंने तुम्हारा उद्धार किया है, वह उद्देश्य मेरा सिद्ध हो गया – तुम में अब मेरी कोई आसक्ति नहीं। (न त्वदर्थम् मयाकृतः) जहाँ इच्छा हो चली जाओ।''[9] महाभारत के रामोपाख्यान में यही कथन और हृदय विदीर्ण करने वाला है: ''अब तुम सच्चरित्र या दुश्चरित्र जो भी हो – मैथिली, मैं तुम्हारा परिभोग नहीं कर सकता, तुम कुत्ते द्वारा चाटे गये घी की तरह हो जिसका उपयोग संभव नहीं है।''[10] दूसरे महत्वपूर्ण लौकिक ग्रंथ 'महाभारत' में भीष्म पितामह युधिष्ठिर को बताते हैं कि ''आदिकाल में पुरुष इतना धर्मपरायण था कि उसे देखकर देवताओं को ईर्ष्या हुई, तब उसने नारी की सृष्टि की – पुरुष को प्रलुब्ध करके धर्मच्युत करने के लिए।''[11]

'इस्लाम' धर्म में भी स्त्री की स्थिति दोयम दर्जे की ही रही है। मुस्लिम 'हदीस' में संग्रहीत मुहम्मद साहब का कथन है कि–''सिजदा करने का हुक्म यदि मैं देता तो अवश्य ही सभी औरतों को हुक्म देता कि वे अपने पति की सिजदा करें।''[12] स्त्री के बारे में अन्य उक्ति है: ''दुनिया में सब कुछ भोग्य सामग्री है और दुनिया की सर्वोत्तम भोग्य सामग्री है नेक चरित्र की स्त्री।''[13] 'हदीस' के अतिरिक्त 'इस्लाम' धर्म का पवित्र ग्रंथ 'कुरान शरीफ' यह घोषणा करता है कि ''पुरुष औरत से उन गुणों के कारण श्रेष्ठ है, जो अल्लाह ने उसे उत्कृष्ट रूप से दिये और अपनी इसी श्रेष्ठता के कारण पुरुष औरत के लिए दहेज जुटा पाता है।''[14] सृष्टि की उत्पत्ति के संदर्भ में इस्लाम धर्म में माना जाता है कि आदम की संगिनी हव्वा के कारण सारी मानव जाति पर विपत्ति आई। इसी प्रसंग को जरा नारीवादी नजरिए से ग़ौर फ़रमाइए:–

'निकल के ख़ुल्द से उनको मिली ख़िलाफते–अर्ज।
निकाले जाने की तोहमत हमारे सर आयी।'

विश्व के सर्वाधिक बड़े धर्म (अनुयायियों की संख्या की दृष्टि से) के पवित्र धर्मग्रंथ 'बाइबिल' में औरतों का दर्जा कोढ़ियों के समान माना गया है। अन्यत्र औरतों को 'पुरुषों की अधीनस्थ,' 'शैतान का दरवाजा', 'एक प्रासंगिक और अधूरा अस्तित्व' या 'अपूर्ण पुरुष' आदि संज्ञा से अविहित किया गया है। उनका भवितत्य है कि– ''यह औरत की नियति है कि वह

पुरुष की अधीनता में रहे, इसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता, उसको प्रभु से कोई सत्ता नहीं मिली है।''[15] –कहकर सुनिश्चित कर दिया गया है।

कुल मिलाकर संसार के प्रमुख तीन धर्मों में स्त्री की स्थिति दोयम दर्जे की है, कहीं–कहीं तो उसे मनुष्य तक नहीं माना गया है। अधिकांशतः इन धर्मों में स्त्रियों के प्रति सिर्फ नकारात्मक धारणाएँ मिलती हैं। यदि कहीं स्त्री के प्रति सहृदयात्मक दृष्टिकोण है, तो भी वहाँ उसे उपकृत करने का भाव ही दृष्टिगोचर होता है। अधिकार में बराबरी की बात कहीं नहीं है। इसी तरह 'सेक्स' को सभी धर्मों में हेय माना गया है, जबकि अन्य जैविक क्रियाओं की तरह यह भी एक नैसर्गिक प्रक्रिया ही है। प्रश्न यहाँ किसी धर्म विशेष में स्त्री की स्थिति का नहीं है; न ही धर्मों की परस्पर तुलना के आधार पर किसी धर्म को हीन सिद्ध करने का भाव है। प्रश्न उन परम्पराओं और मूल्यों का है जिनसे ये धर्मग्रंथ निःसृत हुए हैं, जिसमें ''स्त्री की प्राकृतिक सृजनात्मकता यानि प्रजनन क्षमता का निर्धारक तत्व उसकी इच्छा–अनिच्छा नहीं है, बल्कि सामाजिक सत्ता की मांग हैं।''[16] और उनको व्यवस्था की जकड़बंदी में 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' का एहसास कराया जाना है।

वस्तुतः प्रबोधन काल के पूर्व तक समाज में धर्म की भूमिका काफी निर्णायक होती थी। प्रबोधन का अविर्भाव ही चर्च द्वारा व्यक्तिसत्ता में हस्तक्षेप के विरोध में हुआ था। मध्ययुग तक धर्म की सत्ता और महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि तमाम राजसत्ताएँ अपने राजा को दैवीय अधिकारयुक्त घोषित करती थीं और आक्रमण–प्रत्याक्रमण में 'क्रूसेड' और 'जेहाद' जैसी धर्मयुद्ध वाली शब्दावली प्रयुक्त की जाती थी। बरहाल, धर्म और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का गठजोड़ समाज के शोषितों–वंचितों को हाशिए पर डालकर कैसे वर्चस्वशील व्यवस्था को औचित्यपूर्ण और तर्कसंगत सिद्ध करता है, इसका विस्तृत विश्लेषण नारीवादी इतिहासकार गरदालर्नर (*Gerda Lerner*) ने अपनी पुस्तक 'क्रियेशन ऑफ पैट्रीयार्की' में बखूबी किया है। उन्होंने अरस्तू के इस कथन– ''कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं, अन्य शासित होने के लिए''[17] और उसकी व्यवहारिक परिणति कि– ''पुरुष प्रकृति से ही श्रेष्ठ है और स्त्री निम्न, एक शासक है दूसरी शासित, आवश्यकता के इस सिद्धांत का प्रसार सभी मनुष्यों तक होता है''[18] – की जबरदस्त आलोचना की है और इसका संबंध पितृसत्तात्मक व्यवस्था से जोड़ा है। यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ही कमाल है कि जिसमें समाज का नेतृत्वकर्ता बुद्धिजीवी स्त्री के संदर्भ में अपनी सारी तार्किकता को परे रख देता है। मसलन पाइथागोरस जैसे गणितज्ञ का कथन है कि – ''अच्छे सिद्धांत हैं जो पुरुष की व्यवस्था और उजाले को जन्म देते हैं तथा बुरे सिद्धांत हैं, जो अव्यवस्था, अंधेरा और औरत को जन्म देते हैं।''[19] प्रसिद्ध दार्शनिक शापेनहावर ने वेश्याओं के बारे में लिखा है कि ''वे

सर्वश्रेष्ठ पाप हैं क्योंकि वे पुण्य की संरक्षक हैं।''[20] प्रख्यात मनोविश्लेषक सिंगमंड फ्रायड का मशहूर कथन यहाँ उद्घृत करना अप्रासंगिक न होगा कि ''मनोविश्लेषण के क्षेत्र में इतने वर्ष काम करने के बाद भी मैं यह नहीं समझ पाया कि स्त्री आखिर चाहती क्या है ?''[21] अस्तित्ववादी दार्शनिक नीत्शे का प्रसिद्ध वक्तत्य है कि समझदार आदमी स्त्री के पास जब जाता है तो उसके एक हाथ में गुलदस्ता और दूसरे हाथ में हण्टर होना चाहिए। यह धारणा भी उसी काल की उपज है कि स्त्रियों के पास 'समर्पण की इच्छा' (विल टू सबमिशन) होती है जबकि पुरुष के पास 'शक्ति की इच्छा' (विल टू पावर) होती है। दूसरी उलटबाँसी यह देखने में आती है कि सामाजिक व्यवहार के धरातल पर स्त्री को सारे पापों की खान, शैतान की खाला, रहस्यमयी आदि मानने वाले आध्यात्मिक क्षेत्र में परिणय–संबंधों में स्त्री को ही माध्यम बनाकर 'इश्के–हकीकी' तक की साधना करते हैं। यह बात यूरोपियन 'मिस्टिसिज्म' से लेकर भारतीय रहस्यवादी साहित्य तक सच है। 'काली कमणी नागिणी' कहने वाले कबीर भी भक्ति के क्षेत्र में अपना आदर्श प्रतीक 'सती' को ही चुनते हैं और उसे परमात्मा के प्रति अपने आत्म के निश्छल प्रेम के उद्रेक का साधन बनाते हैं।

समाज के इस द्वैधपरक चिंतन का उल्लेख वर्जीनिया वुल्फ ने अपनी पुस्तक 'ए रुम ऑफ वन्स ओन' में किया है। इस पुस्तक में वुल्फ ने शेक्सपीयर के जीवन की तुलना उसकी कल्पनात्मक बहन के सादगीपूर्ण जीवन से की है। वुल्फ का यह कथन महत्वपूर्ण है कि इंग्लैण्ड में प्रायः लेखिकाओं के प्रति विद्वेष का भाव रखा जाता है। उन्होंने इस पुस्तक में लिखा है: ''बौद्धिक स्वतंत्रता भौतिक चीजों पर निर्भर होती है और औरत हमेशा दरिद्र रही है, केवल दो सौ वर्षों से नहीं बल्कि सृष्टि के आदिकाल से। औरतों को एथेंस के गुलाम बच्चों के मुकाबले कम बौद्धिक स्वतंत्रता प्राप्त रही है। इसलिए औरतों को कविता लिखने के अवसर कुत्ते से भी कम उपलब्ध हैं।''[22] सिद्धांत और व्यवहार की यह द्वैधता आधुनिक युग में भी परिलक्षित होती है, जब अमेरिकन क्रांति में स्त्रियों के बड़ी संख्या में भाग लेने पर भी उनको मताधिकार और प्रतिनिधित्व का अधिकार नहीं दिया गया। फ्रांसीसी क्रांति में स्त्रियों का सक्रिय सहयोग होने पर भी नेपोलियन कैथोलिक चर्च का समर्थन करते हुए अठारह सौ चार ईसवी के 'नेपोलियन कोड' द्वारा स्त्री अधिकारों के समाप्ति की घोषणा करता है। जर्मनी में नाजीवादी दौर तक स्त्री अधिकारों की कल्पना भी बेमानी बात थी।

प्रबोधनकालीन स्त्री चेतना के फलस्वरूप स्त्री अधिकारों के लिए आंदोलनों की शुरुआत होती है, जिसके फलस्वरूप वैधानिक रूप से स्त्रियों की स्वीकार्यता बढ़ती है। सर्वप्रथम 19वीं सदी के स्त्री अधिकारवादी आंदोलन के दबाव में ग्रेट–ब्रिटेन 'विवाहित स्त्री संपत्ति अधिनियम' (मैरिड वूमैन मनी बिल) 1855 ई० में पारित करता है। फ्रांस में स्त्रियों को

कानूनी पहचान और मतदान का अधिकार 1945 ई० में, अमेरिका में यही अधिकार 1933ई० तथा ब्रिटेन में स्त्रियों को ये अधिकार 1920 ई० में मिलता है। अधिकांश इतिहासकार स्त्रीवादी चेतना का उभार 19वीं सदी से मानते हैं, जिसमें मुख्य मुद्दा स्त्री के राजनैतिक अधिकारों का था, किंतु नारीवादी इतिहासकार स्त्री चेतना के विचारों की गूँज उससे पूर्व मानते हैं। कुछ विद्वान 17वीं सदी की अंग्रेज लेखिकाओं मेरी एस्टल (***Mery Astel***) बाथसुआ माकिन (***Bathsua Makin***) और एफ्राबेन (***Aphra behn***) के कार्यों से स्त्रीवादी विचारों की शुरुआत मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान 15वीं सदी के फ्रेंच रचनाकार क्रिश्चियन डी पिजान (***Christine de Pizan***) के लेखन से स्त्रीवादी चेतना का विकास तलाशते हैं। स्त्रीवादी इतिहासकार गरदा र्लनर स्त्रीवादी चेतना को परिभाषित करते हुए इस पंरपरा का विकास 7वीं सदी ईसा पश्चात से स्त्रियों द्वारा पितृसत्तात्मक विचारों के प्रतिरोध के रूप में काफी पूर्व से मानती हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'द क्रियेशन ऑफ फेमनिस्ट कॉंससनेस फ्राम द मिडिल एज ऑफ एट्टीन सेवेंटी' में 7वीं सदी ईसा पश्चात से 1870 ई० तक की इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, यू०एस०ए आदि देशों की श्वेत अभिजात्य और अर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। वे अशिक्षा को स्त्रियों के पिछड़ेपन का मूल कारण मानते हुए सभ्य समाज के विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता पर जोर देती हैं। स्मरणीय तथ्य यह है कि 19वीं सदी के ब्रिटिश, फ्रेंच, जर्मनी के स्त्री अधिकारों का आंदोलन शिक्षा के मुद्दे पर था।

स्त्री अधिकारों को लेकर चलने वाले इन्हीं आंदोलनों की परिणति 'नारीवाद' (फेमिनिज्म) के एक व्यवस्थित सिद्धांत के रूप में हुई। कुछ लोग मानते हैं कि 'नारीवाद' एक राजनीति है, जो समाज में स्त्रियों और पुरुषों के बीच मौजूदा शक्ति–संबंधों में परिवर्तन से निर्देशित हुई है। (शक्ति–संबंधों की संरचना से आशय जीवन के सभी क्षेत्रों जैसे–परिवार, शिक्षा कल्याण, कार्य और राजनीति का संसार, संस्कृति आदि से है।) इस वाद के सैद्धांतिकी निर्माण में जे०एस०मिल की 'द सब्जेक्सन ऑफ वीमेन' सीमोन द बोउवार की 'द सेकेण्ड सेक्स', बेट्टी फ्राइडन की 'द फेमनिनमिस्टिक', केट मिलेट की 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स', जर्मोन ग्रीयर की 'फीमेल यूनॉक', पुर्तगाल की तीन लेखिकाओं की 'न्यू पूर्तगीज लेटर्स', ली हालकोम्ब की 'विक्टोरियन लेंडीज एट वर्क', सूसन ब्राउन मिलर की 'अगेन्स्ट आवर विल', मेरा बेल मार्गन की 'द टोटल वूमन' आदि पुस्तकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

'नारीवाद' शब्द सर्वप्रथम यूटोपियन समाजशास्त्री चार्ल्स फ्यूरर द्वारा 19 वीं सदी में स्त्री के समान अधिकारों के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ। पश्चिमी जगत में प्रबोधन और औद्योगीकरण के फलस्वरूप लोक सेवाओं में स्त्रियों की उपस्थिति बढ़ने के कारण स्त्री अधिकारों की आवाज स्वाभाविक रूप से बुलंद हो चली थी। विश्व के अन्य देशों (खासकर

औपनिवेशिक और गुलाम तथा आर्थिक रूप से पिछड़े देशों) में स्त्री अधिकारों का प्रश्न साम्राज्यवाद और सामंतवाद विरोधी संघर्षों की उपज था। सभी नारीवादी विचारक इस बात पर एकमत हैं कि समाज में नारी द्वितीयक स्थिति में है और यह वरीयता क्रम जेंडर पर आधारित है। उनकी समझ है कि यह भेदभाव (डिसक्रिमिनेशन) सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक–शक्ति–संरचना की देन है, जिसका जैविक विभेद से कोई लेना–देना नहीं है। पिछले एक शताब्दी में नारीवादी विचारों और राजनीतिकों को काफी प्रचार–प्रसार और समर्थन मिला है। मुख्य रूप से इन विचारों की तीन धाराएँ हैं–उदार, समाजशास्त्रीय और रेडिकल नारीवादी।

'उदार नारीवाद' के सिद्धांतों की अवधारणा 'उदार राज्य' के सिद्धांतों – समानता, स्वतंत्रता और न्याय – पर आधारित है। 'सार्वभौमिक मूल्यों' को लेकर चलने वाला यह वाद मानता है कि जब तक लिंगीय भेद–भाव (जेडंर डिसक्रिमिनेशन) का कोई भी रूप मौजूद है, तब तक उपर्युक्त सिद्धांतों का कोई अर्थ नहीं है। इनके सिद्धांतकारों के अनुसार एक आदर्श संसार में पुरुष और स्त्री को (कुछ कम या अधिक) लगभग एक जैसा होना चाहिए (शारीरिक बनावट की दृष्टि से नहीं वरन सामाजिक जीवन की गतिविधियों की दृष्टि से)।

'समाजशास्त्रीय नारीवाद' के अन्तर्गत स्त्री को एक 'वर्ग–समाज' के रूप में देखा जाता है। इसके सिद्धांतों का स्रोत 'मार्क्सवाद' है। मार्क्स और एंगेल्स दानों मानते थे कि ''संतानोत्पत्ति के लिए पुरुष और नारी के बीच श्रम–विभाजन ही पहला श्रम–विभाजन है।''[23] एंगेल्स आगे लिखते हैं – ''इतिहास का पहला वर्ग–विरोध एकनिष्ठ विवाह के अन्तर्गत पुरुष और नारी के विरोध के साथ–साथ और इतिहास का पहला वर्ग–उत्पीड़न पुरुष द्वारा नारी के उत्पीड़न के साथ–साथ प्रकट होता है।''[24] परिवार के अन्तर्विरोधों की चर्चा करते हुए एंगेल्स कहते हैं कि ''परिवार में पति बुर्जुआ होता है, पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है।''[25] असल में, मार्क्सवाद लिंगीय और वर्गीय प्रश्न को एक समान मानता है और कहता है कि लिंगीय–शोषण वर्गीय–शोषण है। इससे मुक्ति तभी संभव है, जब लिंगीय एक वर्गीय अन्तर्विरोधों का समाधान हो जाए । बुर्जुआई समाज में, यहाँ तक कि समाजवादी समाज में भी, दीर्घकाल तक ये अन्तर्विरोध बने रहते हैं। अतः इसके विरुद्ध दीर्घकालिक संघर्ष आवश्यक है। एंगेल्स ने इस संदर्भ में सुझाव दिया कि ''स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी जाति फिर से सार्वजनिक उत्पादन मे प्रवेश करे और इसके लिए आवश्यक है कि समाज की अर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक गुण नष्ट कर दिया जाय। साथ ही स्त्री और पुरुष कानून की नजर में बिल्कुल समान मान लिए जायें।''[26] संक्षेप में, स्त्री–पुरुष में असमानता का कारण एंगेल्स आर्थिक उत्पीड़न मानते हैं, जिसे दूर करके दोनों वर्गों में समानता की भावना

विकसित की जा सकती है। आगे चलकर इस क्षेत्र में स्त्रीवादी मार्क्सवादी मिशेल बरेट ने काफी कार्य किया। उन्होंने स्त्री की परंपरा को समाज व्यवस्था से जोड़कर देखा और उसके आधार पर सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमान विकसित किए।

'रेडिकल नारीवाद' पितृसत्ता (***Patriarchy***) के पुरुष वर्चस्व को ऐतिहासिक रूपों से उत्पीड़न का सबसे पुराना रूप मानता है और शोषण तथा उत्पीड़न के अन्य तरीकों को 'सेक्स' आधारित मानता है। 'सेक्स' और 'जेंडर' के प्रश्न पर इनका कहना है कि नारीवादियों को 'सेक्सेज' के जैविक विभेदों को भूलकर सभी अंतरों को एकमात्र संस्कृति का उत्पाद मान लेने का अर्थ है कि पुरुष सभ्यता स्त्री के पुनरुत्पादक (रिप्रोडक्टिव) चरित्र का ह्रास कर रही है। इनका दावा है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों ने 'स्त्रीत्व गुणों' (फेमनिन क्वालिटीज) को कलुषित किया है। इसलिए नारीवादियों का यह कार्य होना चाहिए कि वे इन गुणों की पूर्णता सुनिश्चित करें। स्त्री और पुरुष के बीच कुछ महत्वपूर्ण भिन्नताएँ हैं, जो उनके जैविक पुनरुत्पादक चरित्र के कारण हैं। इसी कारण से स्त्री अधिक संवेदनशील (सेंसटिव), स्वाभाविक (इंसटिंक्टिव) और प्रकृति के सन्निकट है। रेडिकल नारीवादी जैसे सूसान ग्रिफिन और एंडरा ड्वाकिन का विश्वास है कि स्त्रियों की पुनरुत्पादन की शक्ति, गर्भधारणा की स्थिति और मातृत्व का अनुभव वाह्य संसार से उनके संबंधों को मौलिक रूप से प्रभावित करता है। इसलिए स्त्रियाँ प्रकृति से उनके गुणों–उर्वरता, देखभाल, स्वाभाविकता को बाँटती हैं; जिन गुणों को पितृसत्ताक समाज ने खारिज कर दिया है।

इस तरह 'नारीवाद' के विश्लेषण का केंद्रीय शब्द है–'पितृसत्ता' (पैट्रीयार्की)। आरंभिक रेडिकल नारीवादी केट मिलेट ने 1970 के दशक में इस शब्द को मैक्स वेबर के 'वर्चस्व के सिद्धांत' (कॉनसेप्ट ऑफ डोमिनेशन) के विश्लेषण के संदर्भ में प्रयुक्त किया। मिलेट की स्थापना थी कि सम्पूर्ण इतिहास में पुरुष और स्त्री का संबंध वर्चस्व (डोमिनेट) और अधीनस्थ (सबोर्डिनेट) का रहा है, जिसमें पुरुष ने दो तरीकों–सामाजिक अधिकारिता (सोशल अथॉरिटी) और आर्थिक शक्ति (इकोनॉमिक फोर्स) – से वर्चस्व स्थापित करने कामयाबी हासिल की। 'पितृसत्ता' को एक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने का तर्क यह था कि 'क्योंकि पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ है, इसलिए व्यवस्था पर अधिपत्य रहेगा।' इतिहासकार (नारीवादी) गरदा लर्नर ने अपनी पुस्तक 'क्रियेशन ऑफ पैट्रीयार्की' में इस पर विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि पुरुष अधिपत्य का परिवार में स्त्रियों और बच्चों पर तथा समान रूप से समाज की स्त्रियों तक विस्तार यह साबित करता है कि पुरुष समाज की सभी महत्वपूर्ण संस्थाओं में शक्ति हस्तगत किए था और स्त्री ऐसी किसी भी शक्ति से वंचित थी। इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि सभी पुरुष समान रूप से शक्तिशाली स्थिति में और प्रत्येक स्त्री द्वितीयक अवस्था में

थी। इसका सिर्फ इतना अभिप्राय है कि 'पितृसत्ता' के अन्तर्गत एक विचारधारा थी कि पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ है और स्त्रियाँ पुरुषों की संपत्ति हैं, इसलिए स्त्री को पुरुष के नियंत्रण में रहना चाहिए। इस विचारधारा की व्यवहारिक परिणति हम पूर्व में धर्मग्रंथों और मान्य बुद्धिजीवियों के विचारों में देख चुके हैं। इसी क्रम में, पितृसत्ता के अन्तर्गत स्त्री की 'सेक्सुअलिटी' को एकपत्नीत्व की वैवाहिक संस्था द्वारा नियंत्रित किया गया। एंगेल्स ने लिखा है: ''पितृसत्ता का सबसे अधिक एंव पहला प्रभाव परिवार में पड़ा। एकनिष्ठ परिवार का उदय हुआ। एकनिष्ठ परिवार असमान संबंध बनाए रखता है। यह केवल नारी के लिए एकनिष्ठ है, पुरुष के लिए नहीं और आज तक उसका यही स्वरूप चला आया है। ..... यह परिवार का पहला रूप था जो प्राकृतिक कारणों पर नहीं, बल्कि आर्थिक कारणों पर आधारित था।''[27] घर और घर के बाहर स्त्री की श्रमशक्ति को, उसकी उत्पादकता को पुरुष द्वारा नियंत्रित किया गया । इसका परिणाम अंततोगत्वा यह हुआ कि स्त्री की उत्पादकता पुरुषाश्रित हो गई।

रुढ़िगत रूपों और लिंगभेदीय मानसिकता के निर्माण में पितृसत्तात्मक विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके जरिए स्त्री और पुरुष की 'स्टिरियोटाइप इमेजों' को बरकरार रखा जाता है। इस विचारधारा की अन्य परिणतियाँ पित्सत्तात्मक समाज में 'जेंडर' के बारे में प्रचलित 'पूर्वग्रह और धाराणाएँ' [28] हैं। मसलन–

1. पुरुष प्राकृतिक रूप से श्रेष्ठ, मजबूत और अपेक्षाकृत अधिक तार्किक है, इसलिए अधिपत्य के लिए बना है। इसी श्रेष्ठता के आधार पर पुरुष राजनीतिक, नागरिक और जिम्मेदार राजनीतिक प्रतिनिधित्वकर्त्ता है। इसके विपरीत, स्त्रियाँ प्राकृतिक रूप से कमजोर, निम्न, अबौद्धिक, तार्किक क्षमता से हीन, भावुक; इसलिए राजनीतिक भागीदारी के अयोग्य हैं।
2. स्त्रियाँ घरेलू कार्यों के लिए बनी हैं, जबकि पुरुष बाहरी कार्यों के लिए।
3. पुरुष के पास स्त्री की 'सेक्सुअलिटी' और 'रिप्रोडक्टविटी' को नियंत्रित करने का अबाध अधिकार है, जबकि स्त्री के पास ऐसा कोई अधिकार अपने विपरीत लिंगी के प्रति नहीं है।
4. पुरुष मनुष्य और ईश्वर के बीच मध्यस्थ है। स्त्रियाँ केवल पुरुषों के माध्यम से ही ईश्वर तक पहुँच सकती हैं। आदि .....

उल्लेखनीय बात यह है कि विभिन्न ऐतिहासिक कालों में भिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में 'पितृसत्ता' के अलग–अलग रूप व प्रभाव मिलते हैं। मसलन, पितृसत्ता का अनुभव जनजातीय महिलाओं के लिए वैसा नहीं रहा, जैसा कि पूर्णरूपेण क्रमिक रूप से जातिगत आधार पर व्यवस्थित समाज की महिला के लिए था। 19वीं सदी की तुलना में आज इसका अनुभव भिन्न तरीके का है। यह अनुभव भारत में भी हू–ब–हू वही नहीं हैं, जैसे कि

औद्योगीकृत पश्चिमी देशों में है। इस तरह यह शब्द–'पितृसत्ता' (पैट्रीयार्की) –नारीवादियों के लिए विश्व के सभी देशों में समाज की पुरुषवादी संरचना को समझने के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हुआ। इस समझ के द्वारा आगे चलकर 'पितृसत्तात्मक' संरचना का वर्ग, जाति, प्रजाति(रेस), राष्ट्र, और धर्म आदि से संबंध स्थापित करने में नारीवादियों को सुविधा हुई। उदाहरण के लिए समाजशास्त्रीय नारीवादी जिल्ला इसेंसटीन (***Zillah Eisenstine***) ने पूँजीवादी 'पितृसत्ता' (कैपिटलिस्ट पैट्रीयार्की) शब्द के द्वारा 'पूँजीवादी वर्ग संरचना' (कैपिटलिस्ट क्लास स्ट्रक्चर) और 'लिंगाधारित श्रेणी क्रम संरचना' (हाइरेर्कियल सेक्सुअल स्ट्रक्चर) में द्वन्दात्मक संबंध स्थापित किया। दूसरे शब्द, 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता', (ब्रह्मेनिकल पैट्रयार्की) जिसे उमा चक्रवर्ती ने 'जाति' (कास्ट) और 'लिंगउत्पीड़न' (जेंडर आप्रेशन) के अंतस्संबंध को उद्घाटित करने के लिए प्रयुक्त किया।

'नारीवाद' सेक्स (***Sex***) को पुरुष से जैविक भिन्नता के रूप में और जेंडर (***Gender***) को सांस्कृतिक उत्पाद के रूप में परिभाषित करता है। यह विभेद इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि स्त्री की अधीनस्थता को पुरुष और स्त्री के जैविक भेद के आधार पर औचित्यपूर्ण सिद्ध किया जाता रहा है। जैविक भेद सदियों से स्त्री उत्पीड़न का माध्यम था। इसलिए यह बिंदु (मुद्दा) स्त्रीवादी विचारकों और राजनीति के लिए चुनौती के रूप में आता है। स्त्रीवादी मानव विज्ञानी (फेमनिस्ट एंथ्रोपोलॉजिस्ट) जिसमें मार्गेट मीड (***Margaret Mead***) प्रमुख हैं, ने संस्कृति को स्त्रीत्व और पुरुषत्व में अंतर के कारक के रूप में चिन्हित किया है। उनका कहना है कि विभिन्न समाज कुछ गुणों को 'स्त्री गुण' और 'पुरुष गुण' के रूप में मान्यता देता है, किंतु सांस्कृतिक वैविध्य से इन गुणों में अंतर भी होता है। अतेव नारीवादी विचारकों की मान्यता है कि कोई भी निश्चित जैविक–विभेद स्त्री–पुरुष में नहीं होता और न ही ऐसे कोई सार्वभौमिक गुण हैं, जो स्त्री–पुरुष में फर्क करें। यह केवल सामाजिक जीवन और पालन–पोषण की द्वैधता है, जो दोनों प्राणियों के बीच कृत्रिम अन्तर निश्चित कर देती है। लड़के–लड़कियों को उनके 'विशिष्ट जेंडर' के आधार पर 'विशिष्ट गुणों' –खेल, पहनावे, बात–व्यवहार आदि द्वारा अंतर करना सिखाया जाता है। लिंगाधारित विशिष्ट गुणों (जैसे बहादुरी, ओजस्विता आदि) को 'पुरुष गुण' और संवेदनशीलता (सेंसटिविटी), शर्मीलापन आदि को 'स्त्रीत्व गुणों' की संज्ञा दी जाती है। वे मूल्य, जिन्हें समाज बच्चों को देता है, वे एक विस्तृत समाज द्वारा संस्थाबद्ध तरीके और विश्वास के रूप में उत्पन्न किए गए होते हैं। जैसा कि सीमोन दि बोउवार ने अपनी पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' में लिखा है– "स्त्री पैदा नहीं होती, उसे बना दिया जाता है।"[29] इसके अलावा, सामाजिक व्यवस्था 'पुरुष गुणों' को सामान्यतया 'स्त्रीगुणों' की अपेक्षा अधिक महत्व देती है। जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि स्त्री और

पुरुष निरंतर इन्हीं गुणों को व्यवहृत नहीं कर पाते। इसी तरह 'श्रम' के 'सेक्स' आधारित विभाजन में भी कुछ प्राकृतिक नहीं है। स्त्री और पुरुष के तथाकथित कार्यों का उनकी जैविकता से कुछ लेना–देना नहीं है। जैविक अंतर केवल एक ही स्पष्ट है, वह है गर्भधारणा की क्षमता (प्रक्रिया)। शेष सारे कार्य, जिसे घरेलू श्रम (डोमेस्टिक लेबर) कहा जाता है, पुरुष समान रूप से कर सकता है, किंतु यह स्त्रियों के खाते का ही समझा जाता है। यह 'सेक्स' आधारित श्रम–विभाजन केवल घर तक ही सीमित नहीं है। सामान्यतः स्त्री– प्रभुत्व वाले व्यवसाय जैसे पालन–पोषण और प्रारंभिक शिक्षा आदि में स्त्रियाँ निम्न वेतनमान पर ही रखी जाती हैं। फैक्ट्रियों में कार्यरत स्त्रियों को कम वेतन मिलता है। असल में, कार्यों के इस सेक्स आधारित विभाजन में प्राकृतिक–जैविक–विभेद के बजाय निश्चित विचारधारात्मक पूर्वग्रह हैं, जिनके तहत घर के अंदर और बाहर, स्त्री को भारी कार्यों के लिए शारीरिक रूप से कमजोर और अक्षम ठहराया जाता है जबकि पानी का भारी बर्तन ढ़ोने और लकड़ी आदि ढ़ोने तक सभी भारी कार्य स्त्रियाँ करती हैं। स्त्रियों को अधीनस्थ बनाने में सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों, विचार–धाराओं और संस्थाओं का हाथ है, जो उनकी उपर्युक्त भूमिका सुनिश्चित करती हैं। इसलिए नारीवादी विचारकों की यह माँग है कि सेक्स आधारित भेद–भाव और श्रम–विभाजन खत्म हो तथा यौनिकता और प्रजनन के मुद्दे पर उनको स्वतंत्रता मिले।

स्त्री–केंद्रित भाषा का प्रश्न 'नारीवाद' में काफी महत्वपूर्ण है। नारीवादी विचारकों का मानना है कि वर्तमान भाषाएँ और भाषा शास्त्रीय उपागम लिंगभेदीय पूर्वग्रहों से ग्रस्त हैं। वर्जीनिया वुल्फ प्रथम ऐसी स्त्री लेखिका हैं, जिन्होंने 'वूमेन एण्ड फिक्शन' शीर्षक निबंध (1926 ई०) में स्त्री भाषा की समस्याओं[30] पर विचार किया। उनके अनुसार स्त्री के लिए लेखन प्रक्रिया काफी कष्टकर होती है क्योंकि लोग उनकी वाक्य संरचना और असंतुलित गठन को उपहासास्पद मानते हैं। स्त्रियों की भाषा में वाक्यों का स्वरूप काफी उदार, सहज और स्वाभाविक होता है, इसके बरक्स पुरुष लेखकों के वाक्य जटिल और अत्यंत औपचारिक होते हैं। वर्जीनिया वुल्फ के अतिरिक्त अन्य स्त्रीवादी विचारकों एरीगरी, हेलिनी सिक्साउस, मोनिका विट्टिंग, सांद्रा गिल्बर्ट, सुसान गुबर, दिल्युजी, गुएतरी, एनी लेक्लर्क आदि ने स्त्री भाषा से संबंधित मुद्दों को आगे बढ़ाया है। इन विचारकों ने स्त्री–भाषा के सवाल पर विचार करते हुए कुछ नवीन प्रश्नों पर अपने को केन्द्रित किया है। मसलन सान्द्रा गिल्बर्ट और सूसान गुबर की दृष्टि में स्त्री की प्रतिबद्धता काफी जटिल मुद्दा है। भाषा की दृष्टि से कुछ लेखिकाएँ मुख्य धारा या पुरुष परंपरा में आती हैं, तो कुछ अल्पसंख्यक स्त्री–भाषा की परंपरा से जुड़ती हैं। स्त्री–केंद्रित भाषा पर विचार करते समय 'स्त्री–भाषा' और 'स्त्री जैसी भाषा' के

फर्क को समझना होगा। संभव है कि कोई पुरुष लेखक स्त्री जैसी भाषा प्रयोग करता हो या कोई स्त्री लेखिका पुरुष भाषा में रचना करती हो।

अभी तक स्त्री की पहचान पुरुष–निर्भर है। स्त्री लेखिका को मान्यता पुरुष आलोचक ही देता है। इस व्यवस्था की परिणति यह है कि स्त्री पहचान के जो भी शब्द मिलते हैं, सामान्यतया नकारात्मक अर्थ वाले होते हैं। इस मनोवृति पर 'द प्वांइट व्यू: यूनिवर्सल एण्ड पट्टीकुलर' निबंध में मोनिका वीटिंग की टिप्पणी गौरतलब है: "दो लिंग नहीं होते अपितु एक ही लिंग होता है, वह है स्त्रीलिंग'।"[31] ऐसी एकात्मक व्यवस्था में स्त्री हितों की लड़ाई का स्त्री–भाषा के निर्माण की प्रक्रिया से गहरा संबंध है। स्त्री–संघर्ष के बगैर स्त्री–भाषा संभव नहीं है और भाषा के बिना स्त्री–मुक्ति की कल्पना अधूरी है।

आजकल कुछ विचारक ऐसी भाषा गढ़ने में लगे हैं, जिनमें लिंगवादी आग्रह ही न हो। उदाहरणार्थ 'चेयरपर्सन' (चेयरमैन' या 'चेयर' के समानार्थी) जैसे शब्द शैक्षणिक जगत में काफी प्रचलित हो रहे हैं। ऐसे शब्दों पर भी नारीवादी विचारकों का विपरीत रुख है। प्रसिद्ध स्त्रीवादी मेरी डाली के अनुसार 'चेयरपर्सन' जैसे शब्दों का प्रयोग बड़े खतरे के संकेत है। ऐसे शब्द ज्यादातर स्त्री–उत्पीड़न पर मुखौटा लगाने का काम करते हैं। ये भाषा–भेद पर चिप्पी का काम करते हैं। इसलिए इनका भेद बहुत जल्दी खुल जाता है। भाषिक स्तर पर इस तरह की प्रतिरोध की संस्कृति काफी खतरनाक हो सकती है। व्युत्पत्तिमूलक संरचनाओं को एकाएक खारिज नहीं किया जा सकता। उसमें सुधार–संशोधन की संभावना की तलाश तो करनी ही होगी। असल में, लिंग भेदीय असमानता की समस्या सिर्फ भाषिक नहीं है, उसका दायरा काफी विस्तृत है। यह सामाजिक मनोवृत्ति की सूचक है। जब तक इस मनोवृत्ति में परिवर्तन नहीं आता है, तब तक शब्दों के हेर–फेर से बात नहीं बनेगी। वर्जीनिया वुल्फ और जेसी ओटिस दोनों के विचार से श्रेष्ठ लेखन वही है, जो मूलभूत रूप से 'सेक्सरहित' हो। भाषिक स्तर पर यह एक श्रेष्ठ सुझाव और विकल्प हो सकता है, अन्यथा ऐसी भाषा की तलाश करनी होगी, जो प्रतिगामी न हो, जिसमें परस्पर संवाद सहज सुलभ हो सके।

रेडिकल (उग्र) नारीवादियों की धारणा है कि पितृसत्ताक मूल्यों ने स्त्रीत्व गुणों का ह्रास किया है। अतः नारीवादियों का यह कार्य होना चाहिए कि वे इन गुणों की पूर्णता सुनिश्चित करें। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की प्रजनन क्षमता, गर्भधारण की स्थिति और मातृत्व का अनुभव आदि ऐसे गुण हैं, जो स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में श्रेष्ठ बनाते हैं। इसी अवधारणा की विकास आगे चलकर लेस्बियन सैद्धांतिकी निर्माण में होता है। लेस्बियन स्त्रीवादी चिंतन यह मानता है कि समाज व्यवस्था में यदि स्त्री सबसे ज्यादा उत्पीड़ित है, तो

लेस्बियन स्त्रियाँ, स्त्रियों में सर्वाधिक दमन, उत्पीड़न और उपेक्षा का शिकार हैं। वस्तुतः 'लेस्बियनवाद' और 'नारीवाद' दो भिन्न दृष्टिकोण हैं। पुरुष के साथ शारीरिक संबंधों, संवेदनात्मक और भावुक रिश्ते के अभाव, शादी से स्वतंत्रता या अस्वीकार तथा पुरुष पर किसी भी तरह की निर्भरता का निषेध आदि बातें लेस्बियन स्त्री को 'नारीवाद' से अलग करती हैं। लेस्बियन उस जीवन शैली का निषेध करती है, जो पुरुष द्वारा निर्धारित हो। जीमिरमन के अनुसार "अगर हम लेस्बियन को सिर्फ दो स्त्रियों के कामुक संबंध के रूप में देखेंगे, तो अनुभवों का अधूरा रूप ही सामने आएगा। उसके बदलते पाठगत अर्थ को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समझने की जरुरत है।"[32] इसी क्रम में लेस्बियन स्त्रीवादी साहित्य समीक्षा में अग्रणी योगदान करने वाली विचारक एद्रीनी रीच की धारणाओं पर विचार करना प्रासंगिक है। उनका यह कहना महत्वपूर्ण है कि "हमारे अंदर भी विलिंगी के प्रति पूर्वग्रह होते हैं। आखिर क्या कारण है कि स्त्रियाँ स्त्रियों को प्रेमी या दोस्त के रूप में चुनती हैं ? क्योंकर ऐसी स्त्रियाँ गुमनामी में रहने के लिए मजबूर हैं ? क्या वजह है कि लेस्बियन की वृहत्तर पैमाने पर उपस्थित नजर नहीं आती ? यहाँ तक कि नारीवादी लेखन में भी लेस्बियन की उपेक्षा नज़र आती है ?"[33] ऐतिहासिक सत्य है कि जिस तरह पुरुष समलैंगिकता का जिक्र मिलता है, लेस्बियन वहाँ भी उपेक्षा की शिकार हैं। रीच का कहना है कि लेस्बियन का अनुभव मातृत्व के अनुभव की तरह है। इन संबंधों को पितृसत्तात्मक नजरिए से नहीं समझा जा सकता। स्त्रियों में दोस्तीभाव और सखीभाव जैसे गैरकामुक संबंध भी हो सकते हैं। अन्य लेस्बियन विचारकों में मोनिका वीटिंग का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने स्त्री अस्मिता और लेस्बियन अस्मिता में अंतर किया है। उल्लेखनीय है कि वीटिंग पर फ्रांसीसी 'संरचनावाद' और 'मार्क्सवाद' का गहरा प्रभाव है। वीटिंग के दृष्टिकोण से लेस्बियन स्त्री न होकर असांस्कृतिक–समग्रतामूलक और मिथकीय रूप है। लेस्बियन आर्थिक या राजनीतिक या विचारधारात्मक तौर पर स्त्री नहीं है क्योंकि वर्गीय स्त्री की पहचान वर्गीय पुरुष से जुड़ती है। लेस्बियन इसी मिथक का विध्वंस करके नई स्त्री की सामाजिक निर्मिति के लिए प्रयत्नशील है। बहरहाल, जहाँ तक स्त्री की सामाजिक अस्मिता के निर्माण की बात है, उस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक संरचना की द्विलिंगीय व्यवस्था में किसी 'तीसरे' के लिए स्थान तलब कर पाना असंभव नहीं तो दुष्कर जरूर है और ऐसे किसी प्रयास की परिणति 'मार्जिनलाइज' किए जाने के रूप में होती है। यह इसी से समझा जा सकता है कि सबसे अधिक आधुनिक भाषा में भी 'तीसरे' को मानवीय तरीके से अभिव्यक्त करने की शब्द–संपदा व सलीका नहीं है। किंतु यह भी सत्य है कि लेस्बियन दृष्टिकोण मनुष्य की जैविक आवश्यकता संबंधी भूमिका काम और

प्रजनना का नकार है। एक मायने में यह अप्राकृतिक दृष्टिकोण है। जिन प्राकृतिक गुणों का बँटवारा प्रकृति से स्त्री द्वारा किया जाता है, यह उन्हीं गुणों को महत्वहीन बनाने का प्रयास है। यह एक तरह का अतिवाद है, जो केवल प्रतिरोध के लिए प्रतिशोध की भावना का सहारा लेता है और गैर–प्राकृतिक संबंधों की वकालत करता है। अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि लेस्बियन का मुख्य लक्ष्य पितृसत्तात्मक और पुरुष वर्चस्व की मुखालफत करना है, किंतु मुखालफत करते हुए ऐसे छोर पर पहुँच जाना कहाँ की समझदारी है, जहाँ सिर्फ प्रतिशोध ही अन्तिम सत्य हो।

'नारीवाद' की अपेक्षाकृत नवीन अवधारणा 'न्यू फेमिनिज्म' के नाम से जानी जाती है। यह 'नारीवाद' को सामयिक समझ से जोड़ता है। पाश्चात्य देशों के संदर्भ में सेक्स और स्त्री के लिए तेजी से बढ़ते अवसरों की वैधानिक समानता ने स्त्रियों को शिक्षा, संबंधों और रोजगार में बंधन मुक्त कर दिया। इस विचार के पक्षकारों का मानना है कि 'प्राच्य नारीवाद' या द्वितीय दौर का 'नारीवाद' (जो 1960 के दशक तक माना जाता था) विचारधारात्मक रूप में कम प्रासंगिक और प्रभावकारी रहा। 'द न्यू फेमिनिज्म' (1998) पुस्तक में नताशा वाल्टर कहती हैं कि दूसरे दौर के 'नारीवाद' की आंशिक सफलता को आधार बनाकर सामयिक स्त्री के जीवंत अनुभवों से जुड़ते हुए 'न्यू फेमिनिज्म' का विकास किया जा सकता है। नताशा वाल्टर के अनुसार आज की स्त्रियाँ अपनी पूर्व बहनों से इस मामले में स्वतंत्र हैं कि वे अधिकारयुक्त हैं, अपने प्रारब्ध पर उनका नियंत्रण है, वे नारी जाति और 'नारीवाद' दोनों पर अपने दृष्टिकोण से विचार कर सकती हैं। नारीवादी अस्मिता को खारिज न करते हुए वाल्टर की मान्यता है कि 'न्यू फेमिनिज्म' स्त्री को बिना किसी विचारधारात्मक विवशता के व्यक्तिगत जीवन जीने की सुविधा उपलब्ध कराता है। जबकि ''प्राच्य नारीवाद' अपने 'अतिवाद', 'अनन्यता' (एक्सक्लूसिटी) और 'पोलिटिकल करेक्टनेस' के चलते गैर लचीला और वर्तमान स्त्री की वास्तविकताओं को समझने में असमर्थ था। कावर्ड (1999) ने द्वितीय दौर के 'नारीवाद' की आलोचना पुरुष को शत्रु घोषित करने और 'सेक्सेज' के बीच संबंध बिगाड़ने के मुद्दे पर की थी। इसके विपरीत 'न्यू फेमिनिज्म' एक ऐसे वैयक्तिक विमर्श की संभावना उपलब्ध कराता है, जहाँ स्त्री को कैरियर, मातृत्व और जीवन शैली चुनने का विकल्प हो। दूसरे दौर के 'नारीवाद' की तरह पितृसत्ता और लिंग–उत्पीड़न पर बहस करने के बरक्स यह (न्यू फेमिनिज्म) सामयिक स्त्री के वैयक्तिक अधिकारिता अनुभव और स्वायत्तता की विवेक बुद्धि पर बात करता है। 'न्यू फेमिनिज्म' यह सुझाव देता है कि हम पुरुष को सहयोगी के रूप में देखकर संबंधों और रोजगार में लिंगीय समानता का विकास कर सकते हैं। बहनापा (सिस्टरहुड) और चेतनता को बढ़ाकर तथा राजनीतीकृत लिंग अस्मिता को

परिदृश्य से ओझल कर 'नारीवाद' को एक ऐसे विचार समूह के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों सहज महसूस कर सके। इसके बावजूद इस वाद के चिंतक 'न्यू फेमिनिज्म' को एक राजनीतिक विचारधारा मानने पर आपत्ति करते हैं। 'न्यू फेमिनिज्म' द्वितीय दौर के 'नारीवाद' की आलोचना संरचनागत लिंग भेद कम करने में असफल रहने, उदार प्रजातांत्रिक राज्य के सिद्धांतों से संरक्षित स्त्री–पुरुष की अवधारणा को स्वीकार करने तथा कार्य–स्थल और परिवार में समानता उपलब्ध कराने एवं वैश्विक स्तर पर लिंग असमानता आदि को दूर कर सकने में असमर्थ रहने के मुद्दे पर करता है। वस्तुतः पाश्चात्य देशों के परिवेश से संबंध रखने वाला 'न्यू फेमिनिज्म' अपेक्षाकृत संतुलित किंतु अन्य देशों के परिप्रेक्ष्य में अपूर्ण दृष्टि रखने वाला विचार है।

1980 के दशक से विश्वभर में अस्मितावादी विमर्श बहसों और आंदोलनों के केंद्र में एक विचारणीय शक्ति के रूप में उभरा है। आधुनिकता के दावों–सार्वभौमिकता और वृहद आख्यानों के बीच हाशिए के लोगों की आवाज दबकर रह गई। रंगपरक, नस्लपरक, लिंगपरक, जातिपरक उत्पीड़न को 'सार्वभौमिकता' और 'राष्ट्र' की अवधारणाओं ने ढँक लिया। एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक 'ओरियंटलिज्म' में आधुनिकता के तत्वों की सीमाएँ उद्घाटित करते हुए अपनी दूसरी पुस्तक 'कल्चर एण्ड इंपीरियलिज्म' में विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक अस्मिताओं के प्रति संवेदनशील रहने की वकालत की है। इसके फलस्वरूप सांस्कृतिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, भाषायी और सेक्सुअल आइडेंटिटी आर्थिक न्याय के आधार पर केन्द्रीय स्थिति में आ गई है। मुस्लिम आइडेंटिटी का राजनीतिकरण मध्य–पूर्व में और सांस्कृतिक पुनरुत्थान दक्षिण एशिया–मसलन भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या और श्रीलंका में जातीय संघर्ष के रूप में अधिक संवेदनशील अस्मितावादी विमर्श के रूप में उभरे हैं। असल में, सामाजिक यथार्थ के लिए तीन मुख्य आवश्यकताएँ हैं– संस्कृति (कल्चर), अर्थतंत्र (इकोनॉमी) ओर राजनीति (पॉलीटिक्स)। 1950–60 के दशक तक संस्कृति को भिन्नताओं पर निर्भर माना जाता था। ग्राम्शी, रेमंड विलियम्स और अल्थूसेर के अनुसार संस्कृति सुपर स्ट्रक्चर के भाग (पार्ट) के रूप में गिना जाता था और आर्थिक संरचना (बेस) द्वारा निर्धरित माना जाता था। बाद के अध्ययनों में बहुत से विचारकों ने संस्कृति को पारंपरिक समाज से जोड़ा और संस्कृति को एक 'उत्पाद नहीं, बल्कि प्रक्रिया' माना। इन विचारकों ने आगाह किया कि साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी छोटे–छोटे समाज और संस्कृतियों का गला घोंट सकते हैं। इसके लिए स्त्रियों की पवित्रता, मर्यादा और सम्मान को भंग करके उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी संस्कृति को कमजोर करते हैं। इस प्रक्रिया में उनका पूरा–पूरा साथ स्वघोषित

संस्कृति रक्षक राष्ट्रवादी 'देश धरम का नाता है, सती हमारी माता है,' या 'सती हो तो कैसी हो, रूप कुंवर जैसी हो,' का नारा लगाते हुए बखूबी निभाते हैं।

अस्मिता का निर्माण 'आत्मचेतस' होने की भावना से जुड़ा है और इस क्षेत्र की केंद्रीय उलझन वैयक्तिकता एंव सामाजिकता का द्वैध है। यही नहीं, पहचान की राजनीति पर आधारित कोई भी विमर्श उसके 'मूल्यबोध, स्मृति तंत्र और भविष्यत् कल्पना'[34] से अनिवार्यतः जुड़ा होता है। 'आत्म' की हर समस्या 'अन्य' के द्वारा किए गए उत्पीड़न से उपजती है। इस संबंध को समझने के लिए अस्मिता की संश्लिष्टता को समझना आवश्यक है। इस संश्लिष्टता के तीन पहलू हैं– "मानव होने की सार्वभौम अस्मिता, विशिष्ट सांस्कृतिक अस्मिता और एक व्यक्ति होने की अस्मिता।"[35] व्यक्ति अपनी अनेकोन्मुखी भूमिका के संदर्भ में ही परिभाषित होता है। व्यक्ति की सांस्कृतिक अस्मिता का संबंध सार्वभौमिक और वैयक्तिक अस्मिता के बीच का है जिसमें व्यक्ति अपने रीति–रिवाजों, प्रतीकों, समकालीन अनुभवों और ऐतिहासिक स्मृतियों का साझा करता है। इसी साझेपन के आधार पर एक कल्पित समुदाय की अवधारणा विकसित होती है, जो कि संभव है कि रक्ताधारित भी हो सकती है और मूल्याधारित भी। ये उस विमर्श के पैरोकारों पर निर्भर है कि वे इस विमर्श को क्या बनाना चाहते हैं ?

स्त्री विमर्श के संदर्भ में अस्मितावाद का प्रश्न 'जेंडर' को अस्मिताओं–जाति, वर्ग, नस्ल, धर्म आदि– से जुड़ाव को केंद्रित करते हुए आता है। इसका अर्थ है कि स्त्री का जैविक निर्धारण आवश्यक नहीं कि साझे अनुभव, जीवन परिस्थितियाँ या साझा उद्देश्य रखें। इसी आधार पर स्त्री को काली, मुस्लिम, दलित, सवर्ण, अगड़ी–पिछड़ी आदि अन्य तरीकों से ज्यादा संगठित (मोबिलाइज) किया गया बनिस्पत उसके प्राथमिक स्रोत 'जेंडर' के आधार पर संगठित करने के। भारत के संदर्भ में इसका एक अच्छा उदाहरण 'महिला आरक्षण बिल' का है। उल्लेखनीय है कि सैद्धांतिक तौर पर सभी राजनीतिक दलों की सहमति के बावजूद आज तक यह विधेयक पास नहीं हो सका है। संसद में महिला सांसद दलगत आधार पर अपनी भूमिका का निर्वाह कर इस विधेयक के संदर्भ में अपने कर्तव्य की इति श्री मान लेती हैं।

(ख) हिंदी साहित्य में स्त्री–विमर्श

"लड़की हरे भरे पेड़ देखती है
तो उसे आकाश दिख जाता है
ऊँचे–ऊँचे मिले जुले मकान देखती है
तो आकाश दिख जाता है

लड़की चाहे पेड़ न देखे
पेड़ पर बैठी चिड़िया देखे
उसे आकाश दिख जाता है
घर की खिड़की घंटों बंद रखे
बस, थोड़ी सी खोले
या भूल से सड़क पर निकल आए
दाएँ जाए या बाएँ
उसे आकाश दिख जाता है।''[1]

स्त्री के अनंत विस्तार की यह चाहत हिंदी साहित्य में मीरा आदि भक्त कवियों से परोक्ष रूप में मिलने लगती है, किंतु इससे पूर्व–परंपरा का अवगाहन अपभ्रंश साहित्य के 'शक्ति सूत्र', 'गाथा सप्तशती' और सुत्तपिटक की थेरी गाथाओं में किया जा सकता है। 'शक्ति सूत्र' नारी शक्ति के आत्मविश्वास की पराकाष्ठा का काव्य कहा जा सकता है। 'गाथा सप्तशती' में तीन कवयित्रियाँ– रेखा, ससिप्पहा और रोहा – का उल्लेख मिलता है। 'सुत्तपिटक' के खुद्दक निकाय के नवें भाग में तिहत्तर बौद्ध भिक्षुणियों की थेरी गाथाओं का संकलन है। संपूर्ण भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो कश्मीर की लल्लदेद, मिथिला की चन्द्रकला, दक्षिण की अंडाल और अक्कमहादेवी, महाराष्ट्र की गोदा, जनाबाई, महदम्बा और बहिना बाई तथा राजस्थान की मीराबाई ऐसी महिला रचनाकार हैं, जिन्होंने कश्मीर से लेकर केरल तक स्त्री मुक्ति का संदेश प्रसारित किया। खास हिंदी साहित्य पर नजर डालें, तो स्त्री चेतना का परचम मीरा ने 'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे' कहकर मध्यकाल में ही फहरा दिया था। कवयित्री के रूप में मीरा की लोकप्रियता राजस्थान, गुजरात, ब्रजक्षेत्र के अलावा सुदूर दक्षिण से लेकर बंगाल तक थी। महाराष्ट्र, पंजाब, तमिलनाडु में तो मीरा के भजनों के प्रचलन के साथ मंदिरों में भी मीरा की मूर्तियाँ मिलती हैं। बंगाल में 'भजन' शब्द ही मीरा के भजनों के लिए व्यवहृत होता था। यहाँ उनकी लोकप्रियता के संदर्भ में श्री शिवानी ने 'बंग हृदय में मीरा' शीर्षक अपने निबंध में लिखा है कि 'हमारा प्रेमी बंग, भक्त बंग, कवि बंग मीरा के कावय में उसी तरह लीन हो जाता है जिस तरह एक दिन वह श्री चैतन्य के संकीर्तन में हो उठा था।'[2] मीरा का काव्य भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति और पुरुषवर्चस्ववादी मूल्यों के प्रतिरोध का काव्य है। यह उनकी रचनाओं में सहज ही दृष्टिगोचर होता है:

लोकलाज कुलकानि जगत की दय बहाय जस पानी।
अपने घर का परदा कर लो मैं अबला बौरानी।।

हिंदी साहित्य में मीरा की स्थिति कृष्ण भक्त कवयित्री की रही है। अधिकांश आधुनिक आलोचकों ने भी उनका यही रूप स्वीकार किया है, किंतु मध्यकाल के ही भक्त कवि नाभादास ने मीरा के काव्य की पहचान साहस, निर्भयता और विद्रोह के काव्य के रूप में की है:

"भक्ति निसान बजाय कै, काहू तैं नाहिन लजी।
लोकलाज कुल कुल श्रृंखला, तजि मीरा गिरधर भजी।।"[3]

दूसरी बार हिंदी साहित्य में स्त्री चेतना का उभार 19वीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के प्रारंभ में प्रथम विश्व–युद्ध के आस–पास दिखता है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव और नवजागरण कालीन चेतना के आविर्भाव के फलस्वरूप कतिपय समाज सुधारकों (राजा राम मोहन राय, ईश्वरचंद विद्या सागर, मालबरी, रानाडे, वीरशालिंघम) ने परदा–प्रथा, बाल–विवाह, सती–प्रथा आदि का विरोध करते हुए विधवा–विवाह और स्त्री–शिक्षा का समर्थन किया। 1874 ई० में हिन्दी प्रदेश में भारतेंदु स्त्री–शिक्षा के लिए 'बाल–बोधनी' पत्रिका निकालते हुए 'नारी नर सम होहिं ' की कामना कर चुके थे। 19 वीं सदी के आखिरी दशकों में अनेक स्त्री–संगठन कायम हुए। अनेक पत्र–पत्रिकाओं–स्त्री दर्पण, गृहलक्ष्मी, आर्यमहिला, सरस्वती, माधुरी, महिला–सर्वस्व, कायस्थ महिला हितैषी, चाँद, आदि–द्वारा स्त्री समस्याओं को प्रमुखता से उठाया गया। इनमें से कुछ पत्र–पत्रिकाएँ तो स्त्रियों द्वारा ही निकाली गईं। उल्लेखनीय है कि 'चाँद' पत्रिका से ही महादेवी वर्मा साहित्यिक जगत में प्रतिष्ठित हुईं। हिंदू समाज में स्त्री की गुलामी और यातना के विविध रूपों के ज्ञान और अनुभवों को आधार बना कर 1882 ई० में लिखी गई 'सीमंतनी उपदेश' अन्य प्रमुख स्त्री कृति है। इसके बावजूद प्रो० मैनेजर पाण्डेय के इस कथन से असहमत नहीं हुआ जा सकता कि "हिंदी नवजागरण की चिंता और उस पर बहस के केंद्र में स्त्री की पराधीनता और स्वाधीनता का प्रश्न कभी नहीं रहा है।"[4] पाण्डेय जी की स्थापना है कि "भारतीय स्त्री–जीवन की जटिल समस्याओं, उसकी दासता की दारूण स्थितियों और उसकी मुक्ति की दिशाओं का मूलगामी दृष्टि से जैसा विवेचन महादेवी वर्मा की पुस्तक 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में है, वैसा हिंदी में अन्यत्र कहीं नहीं है।"[5] 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में महादेवी वर्मा ने 'जन्म से अभिशप्त और जीवन से संतृप्त' भारतीय नारी की स्थिति का विश्लेषण किया है। महादेवी ने लिखा है कि "समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है।"[6] किंतु विडम्बना है कि भारतीय नारी को अपनी वस्तुस्थिति का बोध तक नहीं है। कभी वह बेटी के रूप में, कभी बहन, कभी पत्नी, कभी माँ और कभी सास बनकर ही वह अपने को कृतार्थ समझती है। भारतीय संस्कृति में स्त्री की हीन दशा का अनुमान इसी से

किया जा सकता है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में स्त्रियों को संस्कृत में संवाद करने की स्वतंत्रता न थी, उन्हें शूद्रों और दासों की तरह प्राकृत में ही अपने को अभिव्यक्त करना पड़ता था। ध्यान देने वाली बात यह भी है कि भक्ति साहित्य से पूर्व स्त्रियों की रचनाएँ अपवाद स्वरूप ही मिलती हैं। अतीत में स्त्री की स्वाधीनता का गौरवगान करने वालों पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए महादेवी कहती हैं कि "भारतीय स्त्री की सामाजिक स्थिति का इतिहास भी उसके विकृत से विकृततर होने की कहानी मात्र है। बीती हुई शताब्दियाँ उसके सामाजिक प्रासाद के लिए नींव की पत्थर नहीं बनीं, वरन उसे ढ़हाने के लिए वज्रपात बनती रही हैं। फलतः उसकी स्थिति उत्तरोत्तर दृढ़ तथा सुंदर होने के बदले दुर्बल और कुत्सित होती गई।"[7] भारतीय क्या, किसी भी समाज में स्त्री की गुलामी का मूल कारण आर्थिक दृष्टि से स्त्री का पुरुष पर निर्भर होना रहा है। इसलिए सामाजिक पराधीनता और विवशता से मुक्ति के लिए महादेवी जी ने स्त्री की आर्थिक स्वाधीनता को आवश्यक शर्त माना है। आर्थिक स्वाधीनता से स्त्रियाँ सशक्त हो सकती हैं और उन्हें अधिकार मिल सकते हैं। महादेवी ने भारतीय समाज में स्त्री की पराधीनता के संदर्भ में धर्म और शास्त्रों द्वारा मिथक बनाने की प्रक्रिया पर भी विचार किया है। भारतीय मिथक परंपरा में धन की देवी लक्ष्मी, विद्या की सरस्वती और शक्ति की दुर्गा हैं, किंतु भारतीय समाज में स्त्री धन, विद्या और शक्ति तीनों से वंचित रही है। इस प्रक्रिया में निहित चालाकी को उद्घाटित करते हुए महादेवी लिखती हैं कि 'भारतीय स्त्री के अत्यधिक श्रद्धालु पुजारी भी उसकी निर्जीवता को ही देवत्व का प्रधान अंश मानते रहे और आज भी मान रहे हैं।'[8]

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी स्त्री साहित्य की परंपरा काफी पूर्व से जुड़ती है, किंतु औपनिवेशिक शासन के खिलाफ राष्ट्रीय संघर्ष से इसका वर्तमान रूप मिलने लगता है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन से स्त्रियाँ सक्रिय रूप से जुड़ी रहीं। क्रांतिकारी गुटों की कारवाईयाँ और गाँधी के शांतिपूर्ण संघर्षों में स्त्रियों की भागीदारी काफी प्रभावपूर्ण थी। कुछ स्वतंत्र महिला संगठनों के जरिए भी स्वाधीनता संग्राम में स्त्रियों ने हिस्सा लिया। किंतु कुछ अपवादों को छोड़कर स्वाधीनता संग्राम में स्त्रियों की भागीदारी साम्राज्यवाद से देश की मुक्ति के रूप में थी, न कि सांमतवाद से उनके मौलिक अधिकारों की माँग के रूप में। कटु सत्य यह भी है कि भारत में स्त्री अधिकारों के लिए जो आन्दोलन हुए, प्रायः पुरुषों की उनमें महत्वपूर्ण भूमिका थी। स्त्रियों द्वारा अपने अधिकारों के लिए जो भी प्रयास हुए, दुर्भाग्य से वे जनान्दोलन के रूप में परिणत नहीं हो सके। महत्वपूर्ण है कि हिंदी साहित्य में जो नारीवाद या स्त्री–लेखन मिलता है, वह पाश्चात्य जगत के नारीवाद से प्रभावित होते हुए भी कुछ भिन्न स्वरूप धारण करता है। हालाँकि कुछ लोग आरोप लगाते हैं कि यह 'वाद' आयातित

है, लेकिन यह आरोप लगभग वैसा ही है जैसा कभी छायावाद पर लगाया गया था। सच है कि हिंदी साहित्य के स्त्री–लेखन में कुछ प्रवृत्तिगत समानता पाश्चात्य नारीवाद से मिलती है, किंतु काफी परिवेशगत विभेद भी है। 'पितृसत्ता' की विशद व्याख्या पाश्चात्य नारीवाद का प्रस्थान बिंदु है। हिंदी स्त्री साहित्य में भी भारतीय प्ररिप्रेक्ष्य में इस पर नारीवादी रचनाकारों ने विचार किया है। स्त्री–पुरुष लिंग या योनि केन्द्रित संबंधों का विश्लेषण किसी भी रूप में हिंदी स्त्री साहित्य में नहीं मिलता है। इसका कारण यह है कि भले ही आध्यात्मिक धरातल पर हो, स्त्रियाँ अपने यहाँ नकारात्मक तत्वों की प्रतीक कभी नहीं रही हैं। 'अनुभूति' पर जोर पाश्चात्य साहित्य में भी है और यहाँ भी।

हिंदी में सर्वप्रथम 'अनुभूति' की महत्ता का रेखांकन महादेवी वर्मा द्वारा हुआ। 'काव्य कला' शीर्षक निबंध में वे लिखती हैं कि ''अपने विषय पर केन्द्रित होकर उसे जीवन की गहराई तक ले जाना अनुभूति का लक्ष्य रहता है, इसी से हमारी व्यक्तिगत अनुभूति जितनी निकट और तीव्र होगी, दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असंदिग्ध होकर आ सकेगा।''[9] और ''अनुभूति अपनी सीमा में जितनी सबल है उतनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वयं जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।''[10] लगता है, कालांतर में 'जलने का दर्द सिर्फ राख ही जान सकती है' और 'प्रसव की वेदना सिर्फ स्त्री ही समझ सकती है' जैसे 'अनुभूति की प्रामाणिकता को लक्ष्य करने वाले तर्क वाक्य इसी पृष्ठभूमि की उपज हैं। महिला– लेखन का यह प्रजातांत्रिकरण 'महिलाओं के द्वारा, महिलाओं के बारे में और महिलाओं के लिए' साहित्य में एंड्रोजनी प्रदत्त 'परकाया प्रवेश' की अवधारणा पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है। वह भूल जाता है कि ''कविता केवल व्यक्तिगत अनुभूतियों से नहीं, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से भी संबद्ध होती है, साहित्य केवल अपने अनुभवों से नही' 'अन्यों' के अनुभवों से भी जुड़ता है।''[11] प्रश्न यहाँ लेखन में भोक्ता और रचइता के फासले की अवधारणा का है साथ ही अनुभव एंव रचना के एकात्म का भी कि बाल्जाक, टालस्टाय, चेखव, टैगोर, शरतचन्द्र, प्रेमचन्द्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि के नारी पात्रों की व्याख्या कैसे की जाय ? क्या किसी रचना को सिर्फ इसलिए स्त्री–लेखन की कोटि में मान लिया जाय कि उसकी स्रष्टा एक महिला है ? और उन कृतियों का क्या करें जिन्हें महिला रचनाकारों ने स्त्रियेतर विषयों पर लिखा है ? उनकी क्या कोटि बनाई जाय ? क्या कृष्णा सोबती के 'जिंदगी नामा', मन्नू भण्डारी के 'महाभोज', गीतांजलि श्री के 'हमारा शहर उस बरस', अलका सरावगी के 'कलिकथा वाया बाइ पास' या तस्लीमा नसरीन के 'लज्जा' (और भी गिनाए जा सकते हैं) को किसी भी साहित्यिक मानदण्ड के आधार पर खारिज किया जा सकता है ? गौरतलब है कि महाश्वेता देवी जैसी प्रतिष्ठित लेखिका, निर्मला जैन जैसी

आलोचिका और मृदुला गर्ग, अलका सरावगी आदि महिला रचनाकार इस तरह के साहित्यिक विभेद को स्वीकार नहीं करतीं किंतु ऐसी रचनाकारों को स्त्री विमर्श में पितृसत्तात्मक सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों की संवाहक घोषित करते हुए हाशिए पर डालने की कोशिश की जा रही है। "किसी भी श्रेष्ठ और समर्थ कृति के रचनाकार के रूप में लेखक या लेखिका का भेद कर सकना मुश्किल है।"[12] यह मानते हुए भी डा० प्रभा खेतान 'दो उपन्यास और नारी का आत्मसंघर्ष' शीर्षक लेख में लिखती हैं कि "स्त्री लेखन और पुरुष लेखन में फर्क होता है और रहेगा ..... क्योंकि स्त्री और पुरुष आज भी इस पितृसत्तात्मक समाज में जैविक, आर्थिक, सामाजिक धरातल पर भिन्न हैं।"[13] साहित्य में दृष्टिकोण की इस भिन्नता को बनाए रखने की अपनी राजनीति है, जिसकी तरफ डा० निर्मला जैन ने अपने लेख साहित्य में आरक्षण (?) महिला लेखन' में इशारा किया है: "महिला–लेखन की आरक्षित दुनिया जिसमें कोई लेखक की हैसियत से भले ही प्रवेश न पा सके महिला–लेखन के नाम पर घुसपैठ निश्चित रूप से हो सकती है।"[14] और साहित्य में "औपनिवेशिक मानसिकता इस पूरे प्रश्न को पुरुष के खिलाफ स्त्री या पुरुष बनाम स्त्री के ढांचे में देखने की मजबूरी पैदा करती है।"[15] जाहिर है 'तथाकथित' विमर्शकारों की कोशिश साहित्य की साहित्यिकता को गैर जरूरी घोषित कर अपने फायदे के लिए रचना को महज 'ट्रेडमार्क वस्तु' के रूप में तब्दील करने की है।

हिंदी स्त्री साहित्य में पितृसत्ता का विवेचन पाश्चात्य नारीवाद के बरक्स भिन्न रूप में मिलता है। यहाँ पितृसत्ता की संस्थाबद्ध परिणतियों समाज, परिवार, आदि पर अधिक चर्चा हुई है। विवेकानंद के शब्दों में 'भारत में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है, मातृत्व में महानता, स्वार्थ–शून्यता, कष्ट, सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है।'[16] स्त्रीत्व की यह धारणा भले ही आध्यात्मिक धारातल पर 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमंते तत्र देवता' के 'यूटोपियनलोक' का विचरण कराले किंतु वस्तु–स्थिति और सामान्य मान्यता यही है कि 'पूर्वजन्म के पापों के कारण ही स्त्री–योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है।' इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि "पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री (गुड़िया) के धड़ का सुन्दर, सुडौल और सुचारू होना ही, सर्वगुण सम्पन्न होना माना जाता (रहा) है। स्त्री सिर्फ सुंदर धड़ होना चाहिए (सिर हो तो काटकर फेंक दो–बेकार प्रश्न करेगा)।"[17] यह विरासत श्रुतियों –'गार्गी प्रश्नों की अति हो गई, अब और नहीं, वरना तुम्हारा सिर काट दिया जाएगा।'[18] से लेकर द्रौपदी के सतत् प्रश्नाकुल चरित्र की व्यावहारिक परिणति –भरी सभा में निर्वस्त्र' किए जाने तक (और आज भी विभिन्न रूपों में) चली आ रही है। यहाँ प्रबुद्ध लेखिका सुमन केशरी जी का कथन प्रासंगिक ही नहीं महत्वपूर्ण भी है कि "औरत ही तो समाज व्यवस्था और परिवार की संस्थाओं को कायम रखने वाली धुरी है। उसमें प्रेम, आत्मपीड़ा और आत्म करुणा के भाव

Jawaharlal Nehru University Library

TH 11621

स्वीकार्य हैं, लेकिन सतत् जिज्ञासा व प्रश्नाकुलता कतई अस्वीकार्य है– खासकर ऐसी प्रश्नाकुलता जो अपने अपमान को भाग्य का लेख न मान कर अपमान करने वालों से हिसाब चुकाने में व्यक्त हो।''[19] यह अकारण नहीं है कि परंपरागत' भारतीय नारी की छवि सीता, सावित्री, अहिल्या आदि से ही मानी जाती है, जो मिथ्या आरोपों, पुरुष षडयंत्रों का शिकार होने पर भी चुपचाप प्रताड़ना सहने के लिए तैयार है। मिथकों और प्रतीकों के माध्यम से समाज में स्त्री की द्वितीयक स्थिति बनाने की प्रवृत्ति यहीं नहीं रुकती है। सर्व विदित तथ्य है कि लगभग संपूर्ण भारत में प्रजनन की प्रक्रिया को 'धरती' और 'बीज' के रूपक के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। इस रूपक के निहितार्थ की व्याख्या करते हुए प्रख्यात मानव विज्ञानी लीला दुबे कहती हैं– 'स्त्री को मातृत्व के महान कर्तव्य से बाँधते हुए यह प्रतीक बच्चे पर उसके नैसर्गिक अधिकार का संकुचित सीमांकन करता है और ऐसी विचारधारा गढ़ता और स्थिरता प्रदान करता है, जिसमें भौतिक और मानवीय दोनों तरह के संसाधनों का नियंत्रण पुरुष के हाथ में रहता है।''[20] जैविक आधार पर भी प्रजनन–प्रक्रिया में स्त्री– पुरुष की भूमिका समान नहीं रहती किंतु सामाजिक विवशता स्त्री को अपने बच्चों की सामाजिक पहचान व वैधता के लिए एक पुरुष नाम तलाश करने पर मजबूर करती है।

1950 के बाद से हिंदी स्त्री–लेखन का केंद्र बिंदु वैवाहिक जीवन बनता है। हिंदी साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। कुछ संरचनाओं में विवाहेतर प्रेम–संबंधों का विचारशील तथा बेबाक चित्रण हुआ है 'किंतु उनकी परिणति अधिकतर त्रासद रूप में हुई है। विषय के स्तर पर परिवर्तन सिर्फ इतना आया है कि पहले जहाँ स्त्री लांछित, अपमानित, और अपराध बोध से ग्रस्त रहती थी, वहीं अब वह पुरुष को साथी के रूप में स्वीकार कर अपने व्यक्तित्व को सशक्त बनाने में जुट गई है। 'उसके हिस्से की धूप' (मृदुलागर्ग), 'तत्सम' (राजी सेठ) उपन्यासों में इसी तरह की स्थापनाएँ मिलती हैं। दूसरे तरह की रचनाओं में वैवाहिक जीवन की यंत्रणा और संत्राास का चित्रण हुआ है, जिसमें न तो स्त्री की अस्मिता सुरक्षित रह पाती है, न ही उसकी प्रतिभा। ऐसे उपन्यासों में सिमी हर्षिता के उपन्यास 'यातना शिविर', ज्योत्स्ना मिलन कृत 'अपने साथ' और अ अस्तुका, मृणाल पांडे कृत 'विरुद्ध' मन्नू भण्डारी कृत 'आपका बंटी' आदि का नाम लिया जा सकता है। वैवाहिक संस्था का अतिक्रमण भी कुछ उपन्यासों की विषयवस्तु बनाया गया है। कृष्णा सोबती का उपन्यास 'सूरजमुखी अंधेर के' इसका एक अच्छा उदाहरण है। दरअसल, विवाह से विमुखता या विद्रोह का संबंध स्त्री के अपने देह को बरतने के अधिकार से जुड़ा है। 'मित्रो मरजानी' बकौल निर्मला जैन इस अधिकार की बेबाक स्वीकृति कराने वाली पहली कृति है। इसी तरह बगैर अपराध–बोध के विवाहेतर प्रेम–संबंध कायम करने की सशक्त अभिव्यक्ति मृदुला गर्ग के

उपन्यास 'चित कोबरा' में हुई है। देह के अतिरिक्त अपने बारे में किए जाने वाले अन्य निर्णयों के प्रति भी स्त्री पूर्व की अपेक्षा अधिक सजग हुई है। उदाहरणार्थ 'माई' (गीतांजलि श्री), 'त्रिशंकु' (मन्नू भंडारी), 'ऐ लड़की' (कृष्णा सोबती) की नायिकाएँ पारंपरिक स्त्री की भूमिकाओं को छोड़कर अपनी जिंदगी के बारे में स्वयं निर्णय लेने की इच्छा रखती हैं। 'मुझे चाँद चाहिए' (सुरेंद्र वर्मा) की सिलबिल स्वनिर्णय से ही सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ती है।

बहरहाल, स्त्री केंद्रित भाषा का प्रश्न पाश्चात्य नारीवाद ही नहीं हिंदी स्त्री–लेखन का महत्वपूर्ण विचार–बिंदु हो चला है क्योंकि कोई भी भाषा वृहत्तर सामाजिक–सांस्कृतिक निर्मित होती है। जिस 'पितृसत्ता' का उल्लेख पूर्व में किया गया है, भाषिक संरचना में भी उसका असर स्पष्ट रूप से दिखता है। उदाहरण के लिए 'नारी' के ज्यादातर नामों में 'पुर' अर्थात् गृह' का अधिक्य है– अंतः पुरिका, पुरनारी, पुरलक्ष्मी, पुरांगन, पुरस्त्री, पौरस्त्री, पुरन्ध्रि – कहने का तात्पर्य यह है कि नारी के सारे विशेषण उसको घर तक सीमित करने वाले हैं। इसके विपरीत पुरुष नामों में शक्ति–साहस और शौर्यवाचक विशेषण मिलते हैं– पुरुष सिंह, नरशार्दूल, पुरुष पुंगव, नरकेशरी आदि –दृष्टत्य है कि सिंह–शेर, शार्दूल–बाध, पुंगव–सांड़ और केशरी–सिंह का वाचक है। और 'असूर्यपश्या' (सूर्य की रोशनी से भी नारी शरीर को दाग लग सकता है) एवं 'अनाघ्रात'(जिसका गंध न लिया गया हो) शब्द स्त्रियों के विशेषण हैं, इसके विपरीत इस तरह के विशेषण पुरुषों के लिए नहीं मिलते हैं। भाषा में अधिकांश गालियाँ भी स्त्रियों को समर्पित हैं। यहाँ तक कि जो गालियाँ स्त्रियों के श्रीमुख से सुनी जाती हैं, वे भी प्रकारांतर से स्त्रियों पर ही पड़ती हैं। यही नहीं, स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में 'राष्ट्रपिता' जैसे पितृसत्तात्मक उपाधियों और राष्ट्रपति–प्रधानमंत्री जैसे पुल्लिंगवाचक पदों का सृजन हुआ है, यहाँ भी स्त्रियों को 'भारत माता' जैसी अमूर्त संज्ञा से संतोष करना पड़ा। यदि हिंदी साहित्य की बात करें तो चाहे शुक्ल जी का इतिहास हो या अन्य किसी का, सर्वत्र प्रच्छन्न पुल्लिंग केन्द्रिकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्रो० मैनेजर पाण्डेय ने इसका कारण बताते हुए लिखा है कि ''हिंदी में ऐसे शब्दों के न होने का अर्थ है हिंदी समाज, उसकी संवेदना और संस्कृति में पुरुष संबंधी अनेक स्थितियों का स्वीकार। जहाँ भाषा में प्रतिपक्ष अनुपस्थित होता है, वहाँ न विवाद संभव है और न संवाद। ऐसी भाषा में स्त्री की पराधीनता और स्वाधीनता के प्रश्न पर विचार करना कितना कठिन होगा यह अनुमान किया जा सकता है।''[21] स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य में स्त्री लेखन का हाशिए पर होना प्रचलित वर्चस्ववादी भाषा के समानांतर किसी स्त्री–केंन्द्रित भाषा–शब्दावली की अनुपलब्धता है।

90 के दशक से भारत में भूमण्डलीकरण का दौर शुरू हुआ। यूरोपीय पुनर्जागरण और ज्ञानोदय द्वारा प्रेरित मानवीय विकास की अवधारणा के चरम शिखर का दावा करने

वाला भूमण्डलीकरण अपने आप को लैंगिक रूप से तटस्थ मानता है। पूँजी के उन्मुक्त प्रवाह द्वारा विश्व भर के बाजारों के एकीकरण से भूमण्डलीकरण ने एक तरफ तो स्त्री को 'पावर वूमन' और 'मार्केट ब्रांड' बना दिया, वहीं दूसरी तरफ सस्ते श्रम की तलाश में स्त्री को अतीत की किसी भी कालावधि के बरक्स अधिक निर्ममता और संपूर्णता से एक बिकाउ जिंस में तब्दील कर दिया है। अकारण नहीं है कि 90 के दशक से 'मिसवर्ल्ड' और 'मिस यूनिवर्स' जैसी सौंदर्य प्रतियोगिताओं में तीसरे दुनिया के देशों का बोलबाला बढ़ने लगा है। इसके समानुपात में वेश्यावृत्ति, बलात्कार, श्रम बाजार और आव्रजन व्यापार में खासी वृद्धि हुई है। स्थिति की भयावहता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि खाड़ी युद्ध (1992) के समय कुवैत में लगभग सत्रह लाख दक्षिण एशियाई और दक्षिण–पूर्व एशियाई औरतें काम कर रहीं थी, जहाँ उन्हें सस्ते श्रम और व्यभिचार के लिए आसानी से उपलब्ध समझा जाता था। दास प्रथा में तो स्त्री के साथ पुरुष भी बिकाऊ था किंतु भूमण्डलीकरण ने सिर्फ स्त्री को ही बाजारू बना रहने दिया है।

यह भूमण्डलीकरण का ही प्रभाव है कि संचार क्रांति के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति के बरक्स पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार–प्रसार तीव्र होने से 'संस्कृति' खतरे में पड़ गई है और संस्कृति रक्षा का पवित्र कर्म तथाकथित पहरेदारों द्वारा 'बुरका ओढ़ने' और 'ड्रेस कोड' के फतवे से हो रहा है। स्त्रियाँ यहाँ भी मुसीबत में हैं क्योंकि "हर तरह के समुदाय अपनी इज्जत को 'अपनी औरतों' में देखा करते हैं और सांस्कृतिक पहरेदारी की शुरूआत पहले उन पर अपनी संस्कृति के निशान दर्ज करने से होती है।"[22] इसका भी कारण समझ में आता है कि "जब औरतों के जिस्म पर अपनी संस्कृति के निशान गोदनें का सवाल आता है तब सारा दक्षिण पंथ–वामपंथ विचार धाराओं के फर्क लाँघकर एक होता दिखाई देता है।"[23] गौर करने वाली बात है कि दक्षिणपंथी हिंदू संगठनों द्वारा भी 'मिस वर्ल्ड' प्रतियोगिता का उतना ही तीव्र प्रतिरोध होता है, जितना नाइजीरिया में दक्षिणपंथी मुस्लिम संगठनों द्वारा। नारीवादी जनवादियों का भी रुख इस संदर्भ में भिन्न तर्कों के बावजूद यथास्थितिवादियों के काफी अनुकूल है। सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों का सौंदर्य प्रतियोगिताओं के विरोध में मूल तर्क– 'इससे भारतीय संस्कृति का अपमान होता है–" ऐसे लोगों की शब्दावली में भारतीय 'संस्कृति' आप्त मूल्यों से अनुप्राणित है, जिस पर कोई प्रश्न नहीं उठाए जा सकते। संस्कृति का ऐसा वर्चस्ववादी विमर्श यथास्थिति और जड़ता की सामाजिक राजनीतिक को लक्ष्य कर चलता है। इनके लिए स्त्री परिवार, समाज, राष्ट्र आदि पुरुष– सत्ता की संपत्ति है और सौंदर्य प्रतियोगिता भारतीय संस्कृति का अपमान है क्योंकि यहाँ स्त्री अपने देह की नुमाइश अपने लिए करती है। उपर्युक्त तीनों प्रकार की विचारधाराओं द्वारा सौंदर्य प्रतियोगिता का विरोध

करने में निहित सोच और विमर्श का उल्लेख करते हुए डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि– 'सौंदर्य प्रदर्शन का सार्वजनिकीकरण कर मिस वर्ल्ड जैसी प्रतियोगतिाएँ उनमें हिस्सा लेने वाली स्त्रियों के मन में अपने मूल्यवान होने का बोध जगाती हैं। स्त्री के मन में ऐसे व्यक्तित्व बोध का उदय– स्त्री चाहे जिस वर्ग की हो– पुरुष के वर्चस्व को ही भारतीय संस्कृति मानने वालों के लिए बुनियादी रूप से खतरनाक है .... असल में उन्हें इस संभावना पर ऐतराज है कि स्त्री अपनी सेक्सुअलिटी को समझे और अपनी मर्जी से उसका उपयोग करे।''[2]4 नारीवादी जनवादियों की धारणा है कि सौंदर्य प्रतियोगिताएँ नारी देह का वस्तुकरण करती हैं किंतु प्रश्न यह है कि क्या शारीरिक सौष्ठव और सौंदर्य के प्रति सजगता अनिवार्य रूप से वस्तुकरण का द्योतक है ? वस्तुतः इन विमर्शों का असली मुद्दा नारी की देह पर संस्कृति, परंपरा या विचार द्वारा उस पर स्वामित्व स्थापित करने का है, भले वे वैचारिक रूप से किसी विचारधारा से जुड़ते हों।

(ग) इस बहस में शेष कादम्बरी'

अब इस घर में कोई पुरूष नहीं रह गया।
यह एक लंबी कहानी है। कहॉ से शुरू करें ? .....रघुवीर सहाय

'शेष कादम्बरी' 'कलिकथा वाया बाइ पास' की लब्धप्रतिष्ठ लेखिका का दूसरा उपन्यास है। 'कलिकथा' का सरोकार व फलक वृहद था। उस उपन्यास पर कतिपय आलोचकों का आरोप था कि स्त्री होने के नाते स्त्री चरित्रों को पकड़ने या जानने की जो विशेष सुविधा लेखिका को सहज ही प्राप्त थी, उसे लेखिका ने गवाँ दिया या मिस कर दिया। (हालाँकि इस आरोप पर पर्याप्त बहस हो सकती है।) लेखिका (अलका सरावगी) का स्वयं कहना है कि यह शिकायत''[1] उन्होंने 'शेष कादम्बरी' लिखकर दूर कर दी है। 'शेष कादम्बरी' मारवाड़ी परिवार की सत्तर वर्षीया वृद्धा रूबी गुप्ता का आत्मकथात्मक उपन्यास है, जो अपने बेचैन बचपन' और 'ग्रन्थिल गार्हस्थ्य' तथा वैधव्य की ग्रंथि से उबरकर जीवन को कुछ अर्थ देने के क्रम में स्त्रियों के लिए काम करने वाली स्वयंसेवी संस्था 'परामर्श' की स्थापना करती हैं। ''अहंकार के उत्तुंग शिखर पर आरुढ़ इस एकाकी और अवसादग्रस्त महिला के जीवन को सकारात्मक स्पंदन मिलता है, सविता के दुःख व कादम्बरी के जीवनोल्लास के पारस परस से। सताई, दुखियारी सविता से करूणा, नातिन कादम्बरी से जीवन की वस्तुनिष्ठ समझ और किरायेदार परिवार की बहुओं प्रीति व मीरा से वे आस्था व प्रेम के पाठ पढ़ती हैं।''[2] स्त्री–विमर्श में प्रकारांतर से हस्तक्षेप करने वाले इस उपन्यास में देह और आजादी से जुड़े सवाल मुख्य नहीं

हैं। स्त्रियों के लिए 'आर्थिक आजादी' का प्रश्न भी एक विडम्बना की तरह ही इस उपन्यास में उठाया गया है। स्त्री–विमर्श के वे ढ़ेर सारे मुद्दे गायब हैं, जिन्हें 'नारीवाद' का प्रस्थान –बिन्दु माना जाता है। पितृसत्तात्मक समाज का प्रतिनिधि पुरुष भी यहाँ खलनायक की तरह पेश नहीं किया गया है। चाहे रूबी गुप्ता के पिता हों, सुधीर (पति) हों, कानपुर वाले मामा हों, या और कोई, सब के सब पुरुष पात्र यहाँ असहाय और बेबस नजर आते हैं। रूबी गुप्ता को न तो अपने पिता से शिकायत है और न ही पति से। सच यह है कि ''रूबी दी के पास सिर्फ एक पिता जी और दूसरे सुधीर हैं, जिन्होंने रूबी दी से ऐसा कोई सवाल नहीं किया, जिसका जवाब उसके पास नहीं था। रूबी दी उन दोनों के प्रति कृतज्ञ थीं।''[3] यही नहीं, महात्मा गाँधी के भक्त और आजादी की लड़ाई में कई बार जेल जाने के कारण 'जेली चाचा' नाम से विख्यात रूबी दी के कानपुर वाले मामा अपनी पत्नी के सामने भीगी बिल्ली बन जाते थे। रूबी दी के पिता भी उनकी माँ से डरते थे। ''क्या दुनियाँ में सारे लोग अपनी पत्नियों से डरते हैं ?''[4] कानपुर वाले मामा के संदर्भ में रूबी दी का यह कथन 'शेष कादम्बरी' के बहाने एक प्रति स्त्री–विमर्श खड़ा करता है। दूसरे, रूबी गुप्ता का चरित्र भी ऐसा है, जहाँ स्त्री–विमर्श की तथाकथित क्रांतिकारिता सिरे से गायब है। इस अर्थ में शेष कादम्बरी' का स्त्री–विमर्श भिन्न कोटि का है। ''जीवन बीत जाता है, तब छोटे दुःख हों या बड़े दुःख, छोटे सुख हों या बड़े सुख, सब धुंधले और व्यर्थ लगने लगते हैं। जो बातें आदमी के लिए जीने मरने का सबब होती हैं, वे भी सब यों ही आई गई हो जाती हैं।''[5] और फिर 'एक आदमी के जीवन में ऐसा होता भी क्या है कि उस पर कोई कथा लिखी जा सके'[6] का विमर्श प्रस्तुत करने वाला उपन्यास 'शेष कादम्बरी' उन छोटी–छोटी वास्तविकताओं पर केंद्रित हैं, जिससे स्त्री का सहज स्वभाव निर्मित होता है– ''सबके पास, सबके साथ रहते हुए भी सबसे दूर, अपने अकेलेपन में, बिना शिकायत के नितांत अकेले रह सकने का स्वभाव।''[7] ग्यारह साल की छोटी उम्र में ही रूबी गुप्ता को पता चल गया था कि ''कलकत्ते के सबसे पुराने रईस परिवार की रईसी का खून तुम्हारे में नहीं है। तुम्हारा खून अलग है।''[8] माँ–बाप के प्रति बच्चे का जो सहज अधिकार भाव होता है, वह यों ही रूबी गुप्ता से छूट जाता है। ''रूबी के कानों में अचानक समुद्र की लहरों की आवाजें गूँजने लगी थीं। वह डगमगाते कदमों से बिस्तर में अपनी जगह आकर लेट गई।''[9] इस रहस्योद्घाटन से रूबी गुप्ता आत्महीनता की मनोग्रन्थि से ग्रस्त हो जाती हैं कि ''क्या किसी को सचमुच उसकी जरुरत हो सकती है ?''[10] इस तरह के प्रश्नों से वे अंत तक जूझती रहती हैं। ''नथिंग आइ इवर डिड, वाज राइट''[11] जैसे कथन उनकी इसी आत्महीनता को अभिव्यक्त करते हैं। इस आत्महीनता की परिणति यह होती है कि दो बच्चों की माँ बनने के बावजूद न तो वह पति और न ही बच्चों से आत्मीयता से जुड़

पाती हैं। पति के साथ आत्मीय क्षणों में भी उनका अकेलापन उन पर हावी रहता है। कादम्बरी उनकी कथा की समीक्षा करने के क्रम में सही लक्ष्य करती है कि "कथा में हरेक घटना का संबंध उस एक महा–महानिर्णय–रूबी दी को गोद लिया जाना– से जुड़ा हुआ सुसंबद्ध है।"[12] बचपन के उस भावनात्मक संबंध के टूटने की त्रासदी आजीवन उन पर हावी रहती है। तभी तो सुधीर (रूबी गुप्ता के पति) की मृत्यु के पश्चात गौरी के यह कहने पर "मुझे माँ का प्रेम नहीं मिला"[13], रूबी गुप्ता हतप्रभ करने वाला उत्तर देती है– "तुम्हें तो सिर्फ माँ का प्रेम नहीं मिला। मुझे तो न माँ का प्रेम मिला, न बेटी का।"[14] अपने अभावों की सजा रूबी गुप्ता अपने बच्चों को क्यों दे रही हैं, शायद इस पर रूबी गुप्ता अपनी मनःस्थिति के कारण विचार नहीं कर पाती हैं। जिस एक घटना से रूबी दी का भावी चरित्र निर्मित होता है, सामान्यतः दूसरा कोई उसे हाशिए पर डाल सकता था, किंतु रूबी गुप्ता उसे अपने जीवन का हिस्सा बना लेती हैं। इसी से वह खुद भी अवसादग्रस्त होती हैं और दूसरों के भी दुःख का कारण बनती हैं।

लारेटो स्कूल की सिस्टर मार्गरेट की इस सीख कि "किसी से ऐसी बात कभी मत पूछो, जिससे वह असुविधा में पड़े"[15] का अनुकरण कर "न वे कभी पति से असुविधाजनक प्रश्न पूछ पाई और न ही अपनी दोनों बेटियों से, जिन्होंने अपने जीवन के सबसे महत्वपूर्ण निर्णय में उन्हें शामिल नहीं किया।"[16] सामाजिक व्यवस्था की विसंगति यह कि उस 'महत्वपूर्ण निर्णय' में शामिल होने का रूबी गुप्ता का दबा–छिपा आग्रह बचा रह जाता है। यह अलग बात है कि संचित अनुभवों से सीखकर वे अपनी बेटियों को अपनी मर्जी से विवाह की छूट देती हैं। नातिन कादम्बरी के संदर्भ में उनका वह आग्रह भी खत्म हो जाता है। यह बदली हुई परिस्थितियों का दबाव है, जहाँ नातिन कादम्बरी उन्मुक्तता से एक फ्रेंचकट दाढ़ी वाले पत्रकार के साथ दिल्ली में रहती है और चाहकर भी रूबी गुप्ता कादम्बरी से यह पूछने का साहस नहीं कर पातीं कि वह कब उस पत्रकार से शादी करने जा रही है। रूबी गुप्ता ने भी अपने पिता के दोस्त डा० आदिल के लड़के से प्रेम किया था, किंतु वह सामाजिक–विसंगति का सामना करने की बजाय मुँह चुराकर भाग खड़ा हुआ। अपने समय में रूबी गुप्ता बस इतना ही साहस कर पातीं हैं कि शादी से पहले पत्र लिखकर सारी स्थिति होने वाले पति सुधीर के सामने रख देती हैं। रूबी गुप्ता जीवन भर जिस आत्महीनता के अवसाद से ग्रस्त रहती हैं, कादम्बरी में उसका लेशमात्र अंश भी नहीं है। उसमें गजब का आत्मविश्वास है। वह रूबी गुप्ता की तरह सामाजिक यातनाओं–प्रताड़नाओं को सहने के बरक्स समाज की रुढ़ियों, परम्पराओं और हदबंदियों को ठेंगा दिखा देती है। स्त्री–विमर्श की यह रक्तहीन क्रांति अलका सरावगी के लेखन की स्फुट विशेषता है। परिवार के दायरे में

रहकर समाज के ढाँचे को तोड़े बगैर स्त्री–मुक्ति के नए आयाम तलाशने वाली लेखिका इस उपन्यास के माध्यम से स्त्री–विमर्श को एक नई दिशा देती हैं।

एक स्त्री द्वारा, स्त्रियों के माध्यम से, स्त्रियों के पक्ष में लिखा गया यह उपन्यास रूबी गुप्ता और अन्य स्त्री पात्रों के बहाने स्त्री–अस्मिता की खोज करता है। ''जीवन है, तो उसका कोई अर्थ है जरुर, समझ में आए न आए''[17] जैसे दार्शनिक वाक्य से यदि रूबी गुप्ता के अनुसार ''कैसे समझाएँ इस लड़की को जिसे समझाना उतना ही मुश्किल है जितना कभी रूबी दी को समझाना था– कि यदि कोई अपने जीने के लिए वजह खोज रहा है, तो इसमें कुछ गलत नहीं है–किसी उम्र में यह गलत नहीं है। अपने से बड़े उम्र के लोगों की जिंदगी तुम लोगों के लिए फिजूल हो जाती है, पर हर उम्र में अपनी जिंदगी हर आदमी के लिए उतनी ही जरुरी बनी रहती है। इसमें रत्ती भर भी कमी नहीं आती।''[18] इसी जीवनेच्छा शक्ति के चलते उम्र के इस पड़ाव में भी रूबी गुप्ता सालिम अली को पढ़कर पक्षी पहचानना सीखती हैं। कादम्बरी, प्रीति और मीरा के आत्मीय साहचर्य से सहज मानवीय प्रेम को जीवन में अन्तर्भुक्त करती हैं। वैसे भी स्त्रियों की जिजीविषा शक्ति पुरुषों की तुलना में कई गुना अधिक होती है। इसी उपन्यास में यह अन्तर साफ देखा जा सकता है। पत्नी की मृत्यु और बच्चों के विदेश में बस जाने से अकेले पड़ गए पैसठ वर्षीय डा० सुबोध भट्टाचार्य जहाँ पंखे से लटककर अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेते हैं, वहीं रूबी दी लगभग उन्हीं परिस्थितियों में ''जीवन की कोई वजह भले न हो पर जीवन को यूँ ही खत्म होने नहीं दिया जा सकता।''[19] का सूत्र वाक्य पकड़कर सत्तर वर्ष की उम्र में भी जीवन की ऊर्जावान चाह बनाए रखती हैं। वे निर्णय करती हैं कि ''वे कभी सुबोध भट्टाचार्य की तरह आत्महत्या नहीं कर सकतीं चाहे जो हो।''[20]

भूमण्डलीकरण और भोगवाद के बढ़ते प्रभाव तथा पूँजी के फूटते पापाचारी अनुत्तरदायित्व से समाज का प्रत्येक वर्ग व्यर्थताबोध का शिकार हो चला है। यह अकारण नहीं है कि अनेक उपशीर्षकों में बँटे इस उपन्यास में एक शीर्षक 'आत्महत्या के विरुद्ध' भी है। उपभोक्तावादी समाज में जहाँ प्रत्येक वस्तु बेची–खरीदी जाती हो, संवेदनाओं का अकाल सामान्य सी बात है। पति–पत्नी, यार–दोस्त आदि के संबंध सिर्फ एक समझौता (कान्टैक्ट) भर रह गए हैं। व्यक्ति की इज्जत, उसकी प्रतिष्ठा उसके गुणों, विद्वता के कारण नहीं बल्कि धन और पद से निर्धारित होने लगी है। ऐसे समय में व्यक्ति के समक्ष अस्तित्व का संकट खड़ा हो गया है। रूबी गुप्ता खुद ''अगर आपके मन में कभी भूले–भटके आत्महत्या का खयाल आता है, तो हमसे संपर्क करें ''[21] का विज्ञापन पढ़कर ही 'गुड फ्रेंड्स सोसाइटी' के वासुदेव मणि से मिलने जाती हैं। इस उपन्यास के अनेक पात्र आत्महत्या करते हैं। 'मिथ

आफॅ सिसफस' में अलबेअर कामू ने लिखा है कि "जगत में सिर्फ एक ही गंभीर दार्शनिक समस्या है– वह है आत्महत्या।"[22] आत्महत्या का गहरा संबंध अस्तित्व की सार्थकता या निरर्थकता से है। अस्तित्व की सार्थकता का प्रश्न सदैव समाज और चिंतन का हिस्सा रहा है। अपने होने की जरूरत और सुबह व शाम के साथ ' जिंदगी यूँ ही तमाम ' करने की कोफ्त जब व्यर्थता बोध में बदल जाती है तो व्यक्ति के पास आत्महत्या के सिवा कोई विकल्प नहीं बचता है। यह एक तरह से विकल्पहीनता की स्थिति है। ऐसे में व्यक्ति को लगता है कि उसकी सारी प्रतिभा और कार्यकुशलता के बावजूद 'नींव की ईंट' बनना उसकी नियति है। अर्थहीनता का यह बोध उसे आत्महत्या की ओर ले जाता है। उपन्यास में आभा जैन की लड़की मॉडल बनना चाहती है किंतु जब उसे लगता है कि उसका लक्ष्य अपूर्ण रह जाएगा, तो वह आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होती है। अपर्णा बनर्जी के घर काम करने वाली लड़की कल्याणी हालदार सीलिंग से लटककर इसलिए आत्महत्या करती है क्योंकि "कल्याणी ने रंग पेंसिल चुराई थी ताकि वह बोउदी की लड़की के जन्मदिन पर उसे एक चित्र में रंग भर कर भेंट कर सके।"[23] रूबी दी की बुआ आग लगाकर जल मरी थीं। बुआ के अंग्रेज प्रेमी मि.वियेना ने खुद की स्मृतियों से मुक्ति पाने के लिए जल समाधि ली थी, या सचमुच तूफान में डूब गए थे, यह आज भी रूबी गुप्ता के लिए अनसुलझा रहस्य है। 'सेलेक्टेड कोरेस्पांडेस' में मार्क्स ने लिखा है कि शासक–शोषक वर्गों के हित में है कि वे अर्थहीनता के भ्रम को फैलाएँ। निरर्थकता बोध से ग्रस्त व्यक्ति को लगता है कि स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन असंभव है। जबकि मार्क्सवादियों ने इतिहास के हवाले से सिद्ध किया है कि परिवर्तन संभव है। मार्क्सवादियों का इतिहास पर जोर भी इसी कारण से है कि वे नियति के विरुद्ध इतिहास को परिवर्तन के एक कारक के रूप में देखते हैं और 'अर्थहीन विश्व विचार' जैसी अवधारणा को खारिज करते हैं। बहरहाल, जीवन के अर्थ खोजने की जद्दोजहद में हार चुके उपर्युक्त सभी चरित्र रूबी दी के लिए एक समानान्तर विमर्श प्रस्तुत करते हैं।

रूबी गुप्ता की अस्मिता का संकट स्त्री–विमर्श से इस मायने में अलग है कि न तो वे पितृसत्ता से उत्पीड़ित हैं और न ही इसे तोड़ना चाहती हैं। उसके मूल में "मातृसत्ता द्वारा बरती गई वह घोर उपेक्षा है,"[24] जिसके कारण वह कभी सहज नहीं हो पाती हैं। काली राल्स रायस गाड़ी से स्कूल जाने में आपत्ति करने पर "तो क्या भिखमंगों की तरह पैदल जाओगी" और "सत–पीढ़िया शाह की लड़की है, चार–चार घंटे पर साड़ी नहीं बदलेगी, तो भला और कौन बदलेगा ?"[25] जैसे कटाक्ष सुनने का दंश भोगने वाली रूबी गुप्ता उसी मातृसत्ता के स्वभाव के अनुकूल शब्दों का प्रयोग अपनी बेटी गौरी के लिए करती हैं– "गौरी का कलकत्ते में रहना या न रहना एक बराबर है, वह मुझे कोई सान्त्वना नहीं दे सकती।"[26] दोनों का

दुःख बराबर ही था, एक के पति और दूसरे के पिता की मृत्यु हुई थी। ऐसे समय में बेटी का साथ देने की बजाय, रूबी गुप्ता खुद उसी मातृसत्तात्मक व्यवस्था की संवाहक सिद्ध होती हैं, जो उनके दुःखों के मूल में है। इस उपन्यास के माध्यम से अलका सरावगी ने स्त्री–विमर्श में एक वास्तविक पक्ष यह उद्घाटित किया है कि स्त्रियाँ भी स्त्रियों की शोषक होती हैं। रूबी दी की माँ, उनकी सास और खुद रूबी दी के उपर्युक्त कथन इस बात के प्रमाण हैं।

पितृसत्तात्मक समाज में विवाह की संस्था स्त्रियों को उनके मातृगृह से पृथक करती है, साथ ही व्यवहारिक तौर पर उनके पूर्व–गृह के सारे अधिकार भी खत्म कर देती है। जिस माता–पिता, भाई–बहनों के साथ वह बड़ी होती है, वे ही ले जाकर उसे ऐसी जगह छोड़ आते हैं, जहाँ उसके दुःख–दर्द को समझने वाला कोई नहीं होता है। सारे नए चेहरे गुण–स्वभाव से अनजान ही नजर आते हैं। आखिर स्त्रियों के साथ ही यह विसंगति क्यों ? समाज व्यवस्था चलाने के नाम पर उन्हें किस बात की सजा दी जाती है ? जन्म लेते ही स्त्री को इस बात की शिक्षा दी जाने लगती है कि 'बेटी पराया धन' है। उसे दूसरे के घर जाना है, इसलिए उसे अपना स्वभाव छोड़कर दूसरों के साथ किसी भी प्रकार 'एडजस्ट' होने की आदत डाल लेनी चाहिए। मानों 'खूँटे से बँधी गाय' की तरह खूँटा बदला जाना ही उस की नियति हो। रूबी गुप्ता के साथ तो यह संघर्ष दोहरा हो जाता है। जिन माँ–बाप ने उसे पैदा किया, उनके सानिध्य से अकारण उसे अलग कर निःसंतान बुआ–फूफा द्वारा गोद ले लिया जाता है और वह भी कानूनी तरीके से नहीं बल्कि एक पाली हुई लड़की' के रूप में, जिसका खामियाजा रूबी गुप्ता ता उम्र भुगतती हैं।

रूबी दी की शादी उनके पितृ परिवार की तुलना में निम्न प्रतिष्ठा वाले घर में हो जाती है, जिसमें लोग पैसे–पैसे का हिसाब रखते हैं। शादी के दूसरे दिन चाय के लिए मना करने पर सास का फरमान "सुन बहू, हमारे घर में सब चाय पीते हैं। दूध–रस पीना हो, तो अभी बाप के घर चली जा"[27] सुनकर रूबी गुप्ता ने परम्परागत नई–नवेली दुल्हन की तरह चुप्पी साध ली। इसी तरह रूबी गुप्ता की पहली लड़की के पैदा होने पर डाक्टर ने 'एनीमिक' रोग के कारण डेढ़ सेर दूध रोज पीने को कहा, तो दूसरे दिन ही सुधीर गुप्ता के खाने से दही हटा दी जाती है। संयुक्त परिवार की बक–झक से तंग आकर रूबी गुप्ता ने पति से शिकायत की, तो आदर्शवादी पति ने अपनी सौतेली माँ के प्रति कृतज्ञता भाव ज्ञापित करते हुए कुछ कर सकने में असमर्थता व्यक्त कर दी। रूबी गुप्ता द्वारा अपनी कमियाँ पूछने पर सुधीर ने कहा कि "तुम्हारे एक नहीं दो दोष हैं, जिनके कारण तुम्हें मेरे परिवार का प्यार कभी नहीं मिल सकता ... पहला दोष तो यह है कि तुम पढ़ी लिखी हो। औरों की तुलना में तुम अलग हो। दूसरा दोष यह है कि तुम्हारे पास अपना पैसा है, जो और किसी के पास

नहीं है।''[28] विडम्बना है कि मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार में सर्वत्र यश की सूचक शिक्षा अयोग्यता का रूपक बन जाती है। पढ़े–लिखे न होने का आग्रह और 'असुविधाजनक प्रश्न न पूछने' की सलाह समाज द्वारा स्त्री को ऐसे ही नहीं दी जाती है। इसके अपने सामाजिक निहितार्थ हैं क्योंकि पढ़ी–लिखी स्त्री जब प्रश्न पूछेगी, तो वह पुरुष और पुरुष प्रधान समाज दोनों के लिए असुविधाजनक ही होगा। इसीलिए समाज द्वारा स्त्री को कूपमण्डूक बनाए रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी जाती है। क्या यही कारण नहीं है कि स्त्री–शिक्षा के प्रचार–प्रसार और आर्थिक स्वनिर्भरता से परंपरागत भारतीय संयुक्त परिवार टूट कर बिखरने लगे हैं ? उपन्यास में रूबी दी के बचपन से नानी बनने तक की यात्रा में यह बिखराव स्पष्ट नजर आता है। रूबी दी ने संयुक्त परिवार की चाहे जो भी प्रताड़नाएँ सही हों, उनकी बेटियाँ बगैर किसी क्रांतिकारिता के उससे दूर जा खड़ी होती हैं और अपने तरीके से जीवन जीती हैं। नातिन कादम्बरी तक आते–आते तो एकल परिवार का ढ़ांचा भी शेष नहीं बचता है। अवांतर प्रसंगों में रूबी गुप्ता की विधवा सहेली शकुंतला सर पर एक छत' के लिए अपने देवर के घर में उपेक्षित होने के बावजूद पड़ी रहती हैं। फरहा अपने नपुंसक पति से माता–पिता द्वारा तलाक दिलाए जाने की कोशिशों के उपरांत भी उसी (पति) के साथ रहना चाहती है। वहीं, सविता–जिसकी शादी उसके पिता ने ऐसे लड़के से कर दी थी, जिसके तमाम अन्य लड़कियों से भी थे, संबंध–विच्छेद करने में जरा भी हिचकती नहीं है और अपने पति को मुआवजे के लिए कोर्ट में ले जाना चाहती है। बदलते परिवेश में स्त्री–चेतना का यह सकारात्मक विभेद निश्चित रूप से किसी बड़े सामाजिक बदलाव की तरफ संकेत करता है।

उपन्यास में अवांतर प्रसंगों के माध्यम से लेखिका ने अन्य स्त्रियों के बहाने स्त्री–विमर्श की दूसरी समस्याओं पर दृष्टिपात किया है। सविता तो रूबी दी का अक्स ही हैं– ''उस लड़की के चेहरे पर आँखें रूबी गुप्ता की थीं– बिल्कुल वही ठीक वैसे ही भाव लिए जैसी आँखों की गहन स्मृति बचपन से अपने को शीशे में निहारने की आदत के कारण रूबी गुप्ता के लिए कभी धुंधली नहीं हो सकती।''[29] रूबी गुप्ता के नाम की तरह उसका (सविता) नाम भी बेमेल और निरर्थक। सविता को देखकर रूबी गुप्ता को वे दर्जनों मुर्गियाँ याद आ जाती हैं, जिन्हें पंजे में बाँधकर एक साइकिल वाले ने साइकिल के पीछे लटका रखा था। सविता को कोई अपने पास नहीं रखना चाहता था न पिता, न भाई–भाभी। विडम्बना यह कि भाई पिता से बदला लेने के लिए सविता के साथ वही सब कुछ करना चाहता है, जो उसके पिता ने भाई की पत्नी के साथ किया था। रूबी गुप्ता की परामर्श' संस्था में नियमित आने वाली माया बोस का सतीत्व भंग उसके रिटायर्ड स्कूल मास्टर पिता ने ही किया था। रूबी गुप्ता के साथ साए की तरह रहने वाली सायरा अपने भाई के यौन शोषण का शिकार

थी। सविता के संदर्भ में रूबी दी सपना देखती हैं–''सविता उन्हें एक घर में ले गई, जिसमें नंगे ही नंगे लोग भरे थे। एकदम वस्त्रहीन। उसने रूबी दी से कहा इनसे मिलिए रूबी दी ये मेरे पिता हैं। इससे मिलिए रूबी दी यह मेरा भाई है।''[30] ऐसा लगता है जैसे इस समाज में स्त्री नंगे पुरुषों से घिरी हो और घर से लेकर बाहर तक सर्वत्र असुरक्षित हो।

राह चलते लड़की को बचपन में ही यौवन का एहसास करा देने वाली नजरें उनके अंदर असुरक्षा की भावना इस कदर भर देती हैं कि उनका सहज व्यवहार मृतप्राय हो जाता है। विरोधाभास यह है कि हरेक पुरुष को उसकी बहन–बेटी छोड़कर, (इस उपन्यास में तो वह भी नहीं) सारी स्त्रियाँ भोग्य साम्रगी नजर आती हैं। इस विकृत मानसिकता की पुष्टि इसी से होती है कि आए–दिन समाचार पत्रों में बलात्कार से संबंधित खबरें छपती–रहती हैं। प्रमाण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की मानवाधिकार रिपोर्ट देख लेना पर्याप्त है जिसके अनुसार भारत में हर चौवन मिनट पर एक बलात्कार होता है। बलात्कार की शिकार लड़कियों में कुछ ही जीवन जीने का साहस जुटा पाती हैं और कुछ माया बोस की तरह रोजी–रोटी के लिए वेश्यावृत्ति के मार्ग पर चल पड़ती हैं।

सीमोन द बोउवार के शब्दों में ''वेश्या की स्थिति बलि के बकरे जैसी है। पुरुष उसके साथ व्यभिचार करता है और फिर उसे बहिष्कृत कर देता है। वेश्या चाहे वैध रूप से पुलिस की देख–रेख में काम करे या छिपकर, उसे हमेशा अछूत की तरह ही देखा जाता है।''[31] वास्तविकता यह है कि समाज में दलितों, असवर्णों को जितनी उपेक्षा व तिरस्कार का सामना करना पड़ा, उससे कहीं ज्यादा ये औरतें असामाजिक' मानी जाती हैं। आजकल वेश्यावृत्ति के लाइसेंसीकरण' की बहस चल रही है। ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो देह के इस्तेमाल की स्वतंत्रता (सेक्सुअल फ्रीडम) के नाम पर वेश्यावृत्ति के लाइसेंसीकरण की वकालत करते हैं। सेक्सुअल फ्रीडम' एक अलग बात है और स्त्री के शरीर को एक उत्पाद' मान लेना दूसरी बात। सामाजिक विरोधाभास यह है कि एक ओर तो औरतों को बुर्के व घूँघट में कैद रखा जाता है, उन पर ड्रेस कोड का फतवा लादा जाता है, वहीं दूसरी ओर वेश्यावृत्ति' के लाइसेंसीकरण' की वकालत की जाती है। आखिर कितनी औरतें स्वेच्छा से वेश्यावृत्ति अपनाती हैं ? ज्यादातर लड़कियाँ/औरतें अपनी मारक गरीबी से हारकर या फिर अपने निकट संबंधियों या समाज के विकृत मानसिकता वाले पुरुषों के दुराचार झेलकर ही इस धंधे में आती हैं। अधिकांश बच्चियाँ तो छोटी सी उम्र में दलालों द्वारा बहला फुसला ली जाती हैं या फिर घर वालों द्वारा ही बेंच दी जाती हैं। एक बार कोठे पर पहुँचने के बाद वे सभ्य समाज के लिए अछूत हो जाती हैं। इस संदर्भ में कानून में भी अन्तर्विरोध है। कानून की दृष्टि से ''कोई भी बालिग लड़की अपनी इच्छा से अपने घर में पैसे या किसी अन्य वस्तु

के बदले अगर यौन व्यापार करती है, तो यह अपराध नहीं है। अपराध है – एक से अधिक लड़कियों द्वारा देह व्यापार चलाना, सार्वजनिक स्थान पर उसका विज्ञापन करना, ग्राहकों को बहला–फुसलाकर लाना या दूसरे की वेश्यावृत्ति पर गुजारा करना।''[32] यह कुछ वैसा ही है जैसे बालश्रम का प्रतिबंध। भारतीय संविधान के अनुच्छेद चौबीस के अनुसार चौदह साल से कम आयु के किसी बालक के किसी परिसंकटमय नियोजन (कारखाने आदि खतरनाक व्यवसाय) का प्रतिषेध किया गया है, बगैर इस बात की व्यवस्था किए कि उनकी उदरपूर्ति कैसे होगी ? इसका दुष्परिणाम यह होता है कि लाखों बच्चे भूख से बिलख–बिलखकर दम तोड़ देते हैं। वेश्यावृत्ति के संदर्भ में भी तुगलकी व्यवस्था का आलम यह है कि ''घर के अंदर वेश्यावृत्ति गैर कानूनी नहीं और उससे एक कदम बाहर ग्राहक के इंतजार में खड़ा होना कानूनी है।''[33] वैसे जिस समाज में वेश्याओं को 'समाज की गंदगी साफ करने वाली नाली' का दर्जा दिया जाता हो, उसमें किसी सुधार या परिवर्तन की बात करना बेमानी है। फिर भी इस सुधार या परिवर्तन के नाम पर विदेशी फंड से कागज पर हवाई रपटें तैयार करने वाली संस्थाएँ और सेंमिनारों में जाने के लिए हवाई जहाज से सफर करने वाले तथा पंचसितारा होटलों में रुकने वाले उनके लोग शायद ही कभी इस बात का आकलन करने की कोशिश करते हैं कि ''क्या उनका काम एक भी औरत को वेश्या से औरत का दर्जा दिला सका है, या एक भी लड़की को वेश्या बनने से रोक सका है।''[34]

कादम्बरी अगर रूबी गुप्ता से 'सोशल वर्क' की बजाय 'सोशल जस्टिस' के लिए लड़ने की बात करती है, तो उसका निहितार्थ यही है। इसी 'सोशल जस्टिस' के फलसफे का अनुकरण कर रूबी गुप्ता बीमार सविता को अपने घर ले आती हैं और इसी भावबोध से अपनी अन्तिम वसीयत में लिखती हैं ''यदि कष्ट की कोई जाति होती है तो उस नाते मैं सविता के इतने करीबी रिश्ते की हूँ, जितना दुनिया में शायद ही कोई किसी का होता है।''[35]

इस उपन्यास में अलका सरावगी ने रूबी गुप्ता के आत्मसंघर्ष के बहाने गरीबी, अभिजात्य, रईस और शोषक आदि शब्दों पर दृष्टिपात किया है और कहा है ''कितना आसान है किसी को एक खाँचे में रखकर उस पर अपना ठप्पा लगा देना– अभिजात्य, रईस, शोषक या ऐसा ही कुछ। जो आप देख नहीं सकते आसानी से वह है उसकी चेतना ?।''[36] अपनी इसी चेतना को देखने–दिखाने के क्रम में रूबी गुप्ता बार–बार इस उलझन की शिकार होती हैं कि ''सब कुछ करके भी 'वे लोग'–बस्तियों में रहने वाले लोग –हैसियत में उनसे कमतर लोग–कभी उन्हें अपने में शामिल नहीं करते। कर ही नहीं सकते।''[37] इसके बावजूद ''वे इन लोगों के साथ हैं तो किसी तरह की सोशल क्लाइम्बिंग–विशिष्ट वर्ग तक पहुँचने की इच्छा के कारण नहीं। वे इन लोगों के साथ हैं क्योंकि उन्हें नहीं मालूम है कि वे और कहाँ या और

क्या हो सकती हैं।''[38] यह समाज सेवा का दर्शन विकल्पहीनता का बोधक है या 'लेजर क्लास' का वह 'क्लास एपोलोजिया' है, जिसकी चेतना इस भार से दबी जा रही है कि ''आप दूसरों के हिस्से का खा रहे हैं, आप दूसरों के हिस्से का पहन रहे हैं। आप के पास इतना कुछ है और बाकी लोग ऐसे ही आधा पेट खाकर जीवन पूरा कर रहे हैं।''[39] कम से कम यह एहसास रूबी गुप्ता को निश्चित रूप से है तभी तो वह प्रश्न करती हैं कि ''क्या किसी को इसे पढ़कर रूबी गुप्ता से सहानुभूति होगी या उन्हें लगेगा कि यह खाए–पीए–अघाए लोगों का नया शगल है कि वे मामूली हकीकतों का बयान कर अपना कद बढ़ाने की मूर्खतापूर्ण चेष्टा में लग जाएँ ?''[40] खुद रूबी दी का वर्ग चरित्र भी उनके इस संदेह के लिए तर्क गढ़ता है। स्वयं को 'डिक्लास' करके सामाजिक न्याय के मोर्चे पर आने के लिए रूबी दी अपने को आधे–अधूरे मन से तैयार कर पाती हैं। कादम्बरी के व्यवहार को वह 'गुड ब्रीडिंग' का परिणाम मानती हैं। किशोर बाबू के बारे में जब उनकी लड़की रूबी दी से सलाह माँगने आती है, तो वह (रूबी दी) कह उठती हैं कि किशोर बाबू का व्यवहार उनकी 'मिडिल क्लास बैकग्रांउड' का परिणाम है। सविता के करीने व नफासत से काम करने को भी वह उसकी मिडिल क्लास मेंटलिटी' से जोड़ती हैं। जनक और बुद्ध के उदाहरण द्वारा वे स्पष्ट करती हैं कि सच्चा त्याग, सच्ची समाज सेवा की चेतना केवल उन्हीं के वर्ग में उपज सकती है। क्योंकि ''बाकी लोग तो एक किलो सोना पाने की तृष्णा से ही सारे जीवन उबर नहीं पाते, उसे त्यागने की बात तो दूर है।''[41] हालाँकि उनके इस तर्क को कादम्बरी निरस्त करती है; फिर भी इस पर अच्छी–खासी बहस हो सकती है कि श्रेष्ठतम उपलब्ध के समानांतर न्यूनतम अनुपलब्ध पर क्या किया जा सकता है ? क्या ऐसा नहीं लगता है कि समृद्धि के वैराग्य का दर्शन रचने वाले उपन्यास का निहितार्थ समृद्धिशाली समाज की पक्षधरता में ही रूपांतरित नहीं हो जाता है ? इससे शायद लेखिका को भी इन्कार नहीं है कि उपन्यास में ''इस व्यक्ति–विशेष का जीवन अपने समय, अपने जमाने, अपने खास तबके का सच बोलता है।''[42] और इस 'खास तबके' का सच यह है जैसा कि रूबी दी सोचती हैं कि ''वे दुखी हैं, महान हैं, आकर्षक हैं।''[43]

(क) स्त्री विमर्शः बहस व मुद्दे

1. स्त्रीः उपेक्षिता (अनु०) डा० प्रभाखेतान; सीमोन द बोउवार की पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' हिंदी पॉकेट बुक्स, संस्करण 1998, पृष्ठ–52।
2. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श–जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा) लिमिटेड, 2000, पृष्ठ–206
3. स्त्रीः उपेक्षिता – पृष्ठ–53
4. वही पृष्ठ–54
5. वही पृष्ठ–54
6. औरत के हक में–तस्लीमा नसरीन, वाणी प्रकाशन, 1995, पृष्ठ–24
7. वही पृष्ठ–24
8. वही पृष्ठ–24
9. शूद्र पशु नारी– डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल, 'संस्कृतिःवर्चस्व और प्रतिरोध', राधाकृष्ण प्रकाशन, 1995, पृष्ठ–60–61
10. वही
11. औरत के हक में–तस्लीमा नसरीन पृष्ठ–71
12. वही पृष्ठ–82
13. वही पृष्ठ–82
14. स्त्रीः उपेक्षिता डा० प्रभाखेतान, पृष्ठ–57
15. वही पृष्ठ–60
16. शूद्र पशु नारी– डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल, 'संस्कृतिःवर्चस्व और प्रतिरोध', पृष्ठ–62
17. द क्रियेशन ऑफ फेमिनिस्ट कॉससनेस फ्रॉम द मिडिल एज आफ एट्टीन सेवेंटी– गरदालर्नर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1993, पृष्ठ–6
18. वही पृष्ठ–6
19. स्त्री उपेक्षिता – पृष्ठ–56
20. वही पृष्ठ–6
21. स्त्री के लिए जगह– सं. राजकिशोर, वाणी प्रकाशन 2000, पृष्ठ–5
22. अपना कमराः (अनु०) गोपाल प्रधान; वर्जीनिया वुल्फ की पुस्तक 'ए रूम ऑफ वन्स ओन', संवाद प्रकाशन 2002, पृष्ठ–34
23. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श– जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृष्ठ–207
24. वही पृष्ठ–207

25. वही पृष्ठ–207
26. वही पृष्ठ–207
27. वही पृष्ठ–206
28. द क्रियेशन ऑफ फेमिनिस्ट कॉससनेस फ्रॉम द मिडिल एज आफ एट्टीन सेवेंटी– गरदालर्नर
29. स्त्रीः उपेक्षिता–डा० प्रभा खेतान, भूमिका
30. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श– जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृष्ठ–270
31. वही पृष्ठ–331
32. वही पृष्ठ–334
33. वही पृष्ठ–335
34. मुझको डर आतिशे गुलसे है ... अस्मिता विमर्शः एक पड़ताल– डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल, कथादेश फरवरी 2003, पृष्ठ–36
35. 'काश पूछो कि मुद्दा क्या है...।' परिभाषाओं का संघर्ष – डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल, कथादेश अंकः नवम्बर 2003 में प्रकाशित लेख, पृष्ठ–40

(ख) हिंदी साहित्य में स्त्री–विमर्श

1. विनोद कुमार शुक्ल, हंस, मार्च 2001, पृष्ठ–173
2. मीरा और भारतीय भक्त कवयित्रियाँ– चन्द्रा सदायत 'जनमत', जनवरी–मार्च 2002, पृष्ठ–32
3. वही, पृष्ठ–33
4. श्रृंखला की कड़ियाँ– मैनेजर पाण्डेय, अनभै साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली 2002, पृष्ठ–178
5. वही, पृष्ठ–179
6. वही, पृष्ठ–183
7. वही, पृष्ठ–183
8. वही, पृष्ठ–186
9. स्त्रीवादी साहित्य–विमर्श– जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृष्ठ–186
10. वही, पृष्ठ–186
11. मुझको डर आतिशे गुलसे है.... डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल कथादेश, फरवरी 2003, पृष्ठ–37

12. दो उपन्यास और नारी का आत्म संघर्ष– डा० प्रभा खेतान, हंस जून–1994, पृष्ठ–66
13. वही, पृष्ठ–65
14. साहित्य में आरक्षण (?) महिला लेखन–डा० निर्मला जैन, कथा प्रसंग यथा प्रसंग, पृष्ठ–114
15. वही, पृष्ठ–115
16. भारतीय नारी–विवेकानंद, आधी दुनिया– (सं०) नीता मल्ल, बी०एम०एन प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण–2001, पृष्ठ–20
17. माईःअतिक्रमण करती बेटियां–अरविंद जैन, हंस, दिसंबर 1997, पृष्ठ–82
18. स्त्री विमर्श के अंतर्विरोध–प्रभा खेतान, हंस, सितंबर 1996, पृष्ठ–59–60
19. नाम में क्या रखा है– (लेख) सुमन केशरी, स्त्री के लिए जगह सं० राजकिशोर, वाणी प्रकाशन 2000, पृष्ठ–76
20. धरती और बीज (लेख)–लीला दूबे, स्त्री के लिए जगह सं० राजकिशोर, पृष्ठ–60
21. श्रृंखला की कड़ियाँ– डा० मैनेजर पाण्डेय, अनभै साँचा, पृष्ठ–190
22. बुरक़ा और ब्यूटी पार्लर के दरम्यान ?–निवेदिता मेनन, हंस, सितम्बर 2003, पृष्ठ–77
23. वही, पृष्ठ–77
24. गुड़ गुलगुले और सौंदर्य प्रतियोगिता– डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल, विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन 2000, पृष्ठ–77

(ग) इस बहस में 'शेष कादम्बरी'

1. अलका सरावगी और कलिकथाः वाया बाइपास (समीक्षा)–प्रेमसिंह, हिंदुस्तान, दिनांक. 30.12.2001 से
2. रूबी दी का घूसर संसार और इतिहास का बघार–प्रियंकर पालीवाल, वागर्थ, जुलाई 2002, पृष्ठ–110
3. शेष कादम्बरी–अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन 2001, पृष्ठ–149
4. वही, पृष्ठ–29
5. वही, पृष्ठ–102
6. वही, पृष्ठ–91
7. वही, पृष्ठ–59
8. वही, पृष्ठ–9
9. वही, पृष्ठ–30

10. वही, पृष्ठ–31
11. वही, पृष्ठ–75
12. वही, पृष्ठ–162
13. वही, पृष्ठ–108
14. वही, पृष्ठ–108
15. वही, पृष्ठ–9
16. वही, पृष्ठ–9
17. वही, पृष्ठ–197
18. वही, पृष्ठ–11
19. वही, पृष्ठ–15
20. वही, पृष्ठ–197
21. वही, पृष्ठ–28
22. मिथ ऑफ सिसिफस– अलबेअर कामू, पृष्ठ–9
23. वही, पृष्ठ–114
24. नारी का उपन्यास बनाम उपन्यास की नारी– वीरेन्द्र यादव, आलोचना, अक्टूबर–दिसंबर 2001 / जनवरी–मार्च 2002, पृष्ठ–19
25. शेष कादम्बरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–9
26. वही, पृष्ठ–75
27. वही, पृष्ठ–108
28. वही, पृष्ठ–76
29. वही, पृष्ठ–78
30. वही, पृष्ठ–32
31. वही, पृष्ठ–184
32. स्त्री उपेक्षिताः डा० प्रभा खेतान, पृष्ठ–248
33. कोठे और कानून के बीच – सुधा अरोड़ा, प्रकाशित लेख–'सहारा समय' 3 अप्रैल2004, पृष्ठ–22–23
34. शेष कादम्बरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–65
35. वही, पृष्ठ–63
36. वही, पृष्ठ–199
37. वही, पृष्ठ–150

38. वही, पृष्ठ–113
39. वही, पृष्ठ–107
40. वही, पृष्ठ–148
41. वही, पृष्ठ–103
42. वही, पृष्ठ–150
43. वही, पृष्ठ–162
44. वही, पृष्ठ–163

अध्याय – दो

"इतिहास में किस्सागोई और किस्सागोई में इतिहास"

(क) एक शताब्दी की खोज : वाया एक अदृश्य आदमी

(ख) इतिहास का पुनर्पाठ

अपने पहले उपन्यास 'कलिकथा वाया बाइपास' से ही अलका सरावगी के लेखन में इतिहास और स्मृति पर पर्याप्त जोर रहा है। स्मृति के सहारे कथानक में इतिहास और वर्तमान के बीच आवाजाही लेखिका को सहज ही सुलभ हो जाती है। लेखिका के स्वयं के शब्दों में ''इतिहास एक डाक्यूमेंट होता है। जबकि स्मृति तो इतिहास क्या,किसी खास व्यक्ति को पास से देखने का एक टूल है। इतिहास से एक खास चरित्र को जो हाशिए पर चला जा चुका होता है, स्मृति के सहारे ही उभारा जा सकता है। इसी स्मृति के सहारे वर्तमान को भी समझा जा सकता है।''[1] अपने दूसरे उपन्यास 'शेष कांदबरी' में भी अलका सरावगी इतिहास और स्मृति के इसी अंतस्संबंध को अपनी खूबसूरत किस्सागोई के सहारे बड़ी सुन्दरता से रूपायित करती हैं। यहाँ हाशिए पर पड़े हुए व्यक्तियों के माध्यम से दूसरे मिलेनियम की अंतिम शताब्दी की खोज एक 'अदृश्य आदमी' और 'एक शताब्दी की खोजः वाया एक अदद आदमी' शीर्षक से देवीदत्त–जिनके जन्म के साथ पिछली शताब्दी शुरू हुई थी– के सहारे की जाती है। देवीदत्त लखनऊ कांग्रेस में गाँधी के अभ्युदय, जलियाँ वाला बाग हत्याकाण्ड, कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना, और एम.एन.रॉय, जवाहर लाल नेहरू तथा लोहिया के कार्यों के न केवल साक्षी थे, बल्कि उनके कार्यों में देवीदत्त की सक्रिय भागीदारी भी थी। हिटलर की सभाओं तक में देवीदत्त की उपस्थिति थी। नृत्यसम्राट उदयशंकर उनके मित्र थे। यहाँ तक कि प्रेमचन्द के बम्बई के संघर्ष के दिनों में उनका साथ देने से लेकर बम्बइया फिल्मों में कैमरा संभालने तक देवीदत्त यत्र–तत्र–सर्वत्र उपस्थित थे। एक अन्य तरह का इतिहास बोध उपन्यास के एक अन्य पात्र मि.वियेना और उनकी पुस्तक 'इंडियन पीप शो' के द्वारा सामने आता है, जिसमें मि.वियेना बताते हैं कि 'कलकत्ता को अफीम ने बनाया'।

(क) एक शताब्दी की खोजः वाया एक अदृश्य आदमी

देवीदत्त और मि.वियेना के बहाने लेखिका ने उपन्यास को उसके सीमित दायरे से निकाल कर एक वृहत्तर संदर्भ प्रदान किया है। देवीदत्त के माध्यम से लेखिका ने बीती सदी में एक बौद्धिक की बेचैनी को उकेरा है जो समकालीन विचारधाराओं में संपूर्णता की तलाश करते हुए अपने आपको किसी ख़ास विचारधारा से अभिन्न नहीं कर पाता है। 'गाँधीवाद' से शुरू होकर 'गाँधीवाद' तक पहुँचने की देवीदत्त की यात्रा में कई पड़ाव आते हैं। कभी वे कम्युनिज्म को अपनाते हैं, कभी वे समाजवाद से प्रभावित होते हैं। कभी वे एम.एन.राय के शिष्य बनते हैं तो कभी नेहरू और लोहिया की विचारशैली उन्हें अच्छी लगती है। वैचारिक उलझन का यह द्वन्द 'कलिकथा वाया बाइपास' में भी परिलक्षित होता है जहाँ किशोर बाबू अपने मित्रों सुभाष भक्त शांतनु और गाँधीवादी अमोलक के बीच ऊहापोह की स्थिति मे रहते

हैं। शांतनु और अमोलक की अपनी धारणाएँ एवं सोच होती है जबकि किशोर बाबू अपने मारवाड़ी समाज के विश्वासों में ही कैद रहते हैं। ऐसा नहीं है कि बाहरी हलचलों और अपने समाज के पारंपरिक विश्वासों और आस्थाओं के बीच उनके अन्दर द्वन्द नहीं रहता किंतु जब भी वे उससे बाहर निकलने की कोशिश करते हैं; उनकी चेतना पर उनका संस्कार हावी हो जाता है। हार्ट की बाइपास सर्जरी के बाद उन्हें नेहरू के समाजवादी विचार प्रभावित करते हैं। यदि समूचे उपन्यास पर गौर करें, तो परिणति वहाँ भी 'गाँधीवाद' के पक्ष में ही होती है। शांतनु का सुभाष बाबू से मोह भंग होता है और अमोलक गाँधीवादी बना रहता है। स्वतंत्रता के पश्चात् अचानक वह गायब हो जाता है और अपुष्ट सूचनाओं से पता चलता है कि बाबरी मस्जिद विध्वंस के दिन वह अयोध्या में कारसेवकों द्वारा मार दिया जाता है। किंतु उपन्यास के अंत में प्रकट होकर वह रहस्योद्घाटन करता है कि बाबरी मस्जिद विध्वंस में शहीद होने वाला उसका डुप्लीकेट था। इस उपन्यास में अमोलक की मृत्यु एक रूपक है– स्वतंत्र भारत में गाँधी और 'गाँधीवाद' की हत्या का। उसका पुनः जीवित होना भी इस बात का रूपक है कि भले ही 'गाँधीवाद' को कितना ही अप्रासंगिक– अव्यवहारिक घोषित करने की कोशिश की जाय, किंतु उसके कुछ मूल्यों और विचारों की उपादेयता अभी शेष है। 'शेष कांदबरी में भी '' देवीदत्त ने यह कभी नहीं माना कि गाँधी मर सकता है– उसी तरह जैसे बुद्ध कभी नहीं मरता।''[1]

प्रबोधन के फलस्वरूप नई शिक्षा व ज्ञान की पद्धतियों से सर्वप्रथम औपनिवेशिक देशों के एक छोटे से हिस्से में नवीन प्रकार की बौद्धिक चेतना का प्रसार हुआ। बढ़ती साक्षरता और संचार के साधनों से इस चेतना का प्रसार समाज के अन्य वर्गों तक होता है। डेनियल लर्नर ने किसी भी पारंपरिक समाज के आधुनिक बनने की प्रक्रिया के तीन चरण[2] बताएँ हैं– पारंपरिक, संक्रमण कालीन और आधुनिक। भारत में अंग्रेजों के संपर्क से बंगाल के पारंपरिक समाज के एक वर्ग में पाश्चात्य शिक्षा का जबरदस्त प्रचार–प्रसार होता है। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन आदि की पीढ़ी बंगाल की संक्रमण कालीन अवस्था की थी जिससे प्रारंभ में इन विद्वानों में पाश्चात्य सभ्यता के प्रति बेचैनी, आर्कषण और कशमकश की प्रवृत्ति मिलती है। इस पीढ़ी में भारतीय परंपराओं और मान्यताओं को लेकर अंग्रेजी समाज के उन्मुक्त रीति–रिवाजों से बहुत तीव्र द्वन्द होता है। समूची परंपरा पर आघात इन लोगों के व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाता है किंतु वहीं इनको यह भी एहसास होता है कि अंग्रेजी कोट और टाई पहनकर या छुरी और काँटे से खाने से ये अंग्रेज नहीं बन सकते। इसलिए ऐसे संक्रमणकालीन व्यक्तित्वों के द्वन्दों की परिणति या तो अपनी अस्मिता की तलाश अतीत में

करने की होती है या फिर राजा राममोहन राय की तरह आधुनिकता के आलोक में अतीत की परंपरा का पुनराविष्कार करने की।

देवीदत्त के प्रसंग में भी मुकम्मल विचारधारा का प्रश्न काफी जटिल हो उठता है क्योंकि श्रीमान देवीदत्त ने "अपना जीवन किसी एक सिद्धांत के पीछे दंड–बैठक करते नहीं बिताया"[3] जैसा कि अमूमन लोग करते हैं। अनवरत पूर्ण आदर्श या सिद्धांत को पाने की उनकी छटपटाहट उन्हें देश और विदेश के तमाम तथाकथित या वास्तवकि महान नेताओं का अनुगमन करने को बाध्य करती रही। यह संयोग नहीं कि देवीदत्त जीवन भर जिस वैचारिक उलझन से बेचैन रहे, किशोर बाबू उसके शिकार हार्ट की बाइपास सर्जरी के बाद होते हैं। यही कारण है कि बंगाली समाज जिसमें आधुनिकता के तत्व विद्यमान थे और मारवाड़ी समाज जिसमें परंपरा की बहुतायता थी;देवीदत्त और किशोर जैसे चरित्र पिस कर रह जाते हैं। ये चरित्र अपनी अस्मिता की तलाश में विभिन्न विचारधारा ओं के आस–पास भटकते हैं। इन परिस्थितियों में देवीदत्त और किशोर बाबू (हार्ट की बाइपास सर्जरी के बाद) जैसे चरित्रों का संघर्ष दोहरा हो जाता है क्योंकि बंगाली समाज में ये 'एडजस्ट' नहीं हो सकते और मारवाड़ी समाज को ये काफी दूर छोड़ आए होते हैं। इनकी स्थिति परंपरा और आधुनिकता के द्वन्द में फँसे उस बौद्धिक की हो जाती है, जो ग़ालिब के शब्दों में–

इमाँ मुझे रोके है तो खींचे है मुझे कुफ़्र
काबा मेरे पीछे है कलीसा मेरे आगे।

असल में, नई अभिलाषाओं और पुरानी परंपराओं के बीच द्वन्द देवीदत्त जैसे संक्रमणकालीन चेतना से युक्त व्यक्तित्व के लिए स्वाभाविक भी था क्योंकि संक्रमणकालीन चेतना से युक्त व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से और प्रायः श ारीरिक रूप से गतिमान प्रवृत्ति के होते हैं। इनकी गतिशीलता भौतिक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप से सुनिश्चित तरीके से प्रत्येक स्थान पर साथ–साथ चलती है। 'परिंदो की दुनिया का दरवेश हूँ मैं के, शाहीन बनाता नहीं आशियाना' इनका स्वभाव बन जाता है। इसलिए ऐसे व्यक्ति अपनी धारणाओं में और विचारों में प्रायः किसी पूर्व ग्रह से मुक्त रहते हैं क्योंकि इनकी संवेदना यायावरी होती है। देवीदत्त के जीवन चरित्र से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। देवीदत्त की बेचैनी उनको मजबूर करती है– किसी एक पूर्ण विचारधारा की तलाश के लिए। दरअसल जड़ और आकाश विहीन देवीदत्त जैसे व्यक्तित्व के लिए विचारधारा विचारों के अनंत समुद्र में विचारधारा एक लंगर की भाँति होती है, जहाँ वे स्थिरता पाना चाहते हैं किंतु स्वत्व और अस्मिता की तलाश में भटकते ऐसे लोगों के लिए पुनः ग़ालिब का शेर याद आता है–

कोई उम्मीद बर नहीं आती, कोई सूरत नजर नहीं आती।
मौत का एक दिन मुअइय्यन है, नींद क्यों रात भर नहीं आती।

जिज्ञासा की बेचैनी में रात भर नींद न आने की छटपटाहट उनको मजबूर करती है एक ऐसी विचारधारा की तलाश के लिए, जो पूर्णता और सातत्य का भाव दे सके। वे ऐसे सत्व की तलाश करने की कोशिश करते हैं जो हर परिस्थिति में सांत्वना दे सके, किंतु जब ऐसी पूर्णता संभाव नहीं लगती तो वे पुरानी परंपरा को परिष्कृत कर एक वैकल्पिक परंपरा के विकास की ओर अग्रसर होते हैं। परंपरा का रिश्ता सातत्य से है और आधुनिकता का अविर्भाव ही परंपरा पर चोट के रूप में होता है। ऐसी परिस्थिति में ऐसे व्यक्ति अक्सर परंपरा की ओर झुकते हैं। संक्रमणकालीन चेतना से युक्त ऐसे व्यक्ति इतिहास, वर्तमान और भाविष्य की चेतना के बीच अपने सर्जनात्म क आत्मनिरीक्षण द्वारा एक सेतु बनाने का कार्य करते हैं। वह सेतु अतीत का गौरव गान भी हो सकता है और आधुनिकता के आलोक में अतीत का परिष्कार भी। देवीदत्त के प्रसंग में यदि देखा जाय तो यह संयोग नहीं है कि देवीदत्त की वैचारिक यायावरी गाँधी की ओर पुनः लौटती है, इस संदेहात्मक स्वीकारोक्ति के साथ कि "क्या निरतिशय पूर्णता कोई चीज नहीं है।"[4] वे खुद से प्रश्न करते हैं कि "क्या सारे रास्ते गाँधी की तरफ ही जाते हैं या कभी न कभी किसी न किसी टेढ़े–मेढ़े गलियारे से उधर ही पहुँचा जाते हैं ?"[5] इस पर हम आगे विचार करेगे। फिलहाल, उनकी वैचारिक यात्रा के प्रथम चरण से शुरू करे।

महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में लिख है– "मुझे दुनिया को कोई नई चीज नहीं सिखानी है। सत्य और अहिंसा अनादि काल से चले आए हैं।"[6] उन्होंने लिखा है कि "मेरे प्रयोगों में तो आध्यात्मिकता का मतलब है नैतिकता, धर्म का अर्थ है नीति; आत्मा की दृष्टि से पाली गई नीति धर्म है।"[7] वस्तुतः सत्य, अहिंसा और प्रतिरोध के लिए नैतिक बल गाँधी के वे अस्त्र थे जिनसे उन्होंने स्वाधीन भारत का सपना साकार किया। भारतीयों की पराधीनता को उनके नैतिक उत्थान में बाधक जानकर ही उन्होंने स्वाधीनता आंदोलन में भाग लिया। उनके लिए अहिंसा का स्थान स्वराज से पहले था। कहना न होगा कि सत्य, अहिंसा और प्रतिरोध के लिए नैतिक बल तथा महात्मा की उनकी छवि तत्कालीन भारतीय जनमानस की मूल अध्यात्मिक प्रवृत्तियों के काफी अनुकूल पड़ती थी। यही कारण है कि गाँधी के जनआंदोलनों में बालक से लेकर वृद्ध तक सभी वर्गों के लोग शामिल थे। देवीदत्त भी प्रारंभ में भारत के आम आदमी की तरह किसी पहुँचे हुए "साधु–फकीर के पास पहुँच जाने की जनम–जनम की आकांक्षा"[8] के कारण ही गाँधी की तरफ प्रथम बार आकृष्ट होते हैं और चंपारन से शुरू करके चौरी–चौरा कांड के कारण गाँधी जी द्वारा असहयोग आंदोलन स्थागित करने तक

उनके साथ रहते हैं। देवीदत्त की पूर्णता की तलाश के पीछे गाँधी जी की सत्य के निरंतर अन्वेषण की प्रवृत्ति का कितना योगदान था, कहा नहीं जा सकता किंतु इतना स्पष्ट है कि पूर्णता की खोज में देवीदत्त अपनी वैचारिक यात्रा के अगले पड़ाव एम.एन.राय की ओर अग्रसर हो जाते हैं। गौर करने वाली बात यह है कि देवीदत्त गाँधी के हिंसा पर अहिंसा को वरीयता देने के कारण गाँधी से विमुख होते हैं। एम.एन.राय और 'कम्युनिज्म' के बौद्धिकता पूर्ण विचारों के आलोक में देवीदत्त ने ''गाँधी के मध्ययुगीन पिछड़े और प्रतिक्रियावादी विचारों को ही नहीं देख समझा, बल्कि अपने बचपन की बिना जाँची ऊलजूलूल धार्मिकता को जला डाला।'[9] उनको समझ में आया कि गाँधी के लिए भौतिक जगत का अस्तित्व वहीं तक है जहाँ तक वह उनके अंदर को प्रभावित करता है। अनुभव और अनुभूति का यही पारंपरिक भारतीय तरीका था। दूसरे, गाँधी द्वारा 'हृदय परिवर्तन' और 'अन्तरात्मा की आवाज' पर आधारित राजनीति का प्रचलन शुरू हुआ जिसके परिणामस्वरूप भारतीय स्वाधीनता संघर्ष लंबा होता गया और अनेक क्षमतावान नेता तथा क्रान्तिकारी बलिदान हो जाते हैं। यह वही काल था जिसमें भारतीय राष्ट्रवाद 'हिंदू राष्ट्रवाद' के रूप में परिवर्तित होता गया, जिसकी त्रासद परिणति हमें विभाजन के रूप में चुकानी पड़ी। यहाँ इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गाँधी की 'हिंदू महात्मा' की छवि को कट्टरपंथियों ने अपने निहित स्वार्थों की वजह से एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया था।

एम.एन.राय का संबंध भारतीय साम्यवादियों की पहली पीढ़ी से था। रूस में वोल्शेविक क्रांति (1917 ई०) के बाद राय रूस चले गए और लेनिन के निकट सहयोगी बने। अन्य भारतीय युवाओं की तरह देवीदत्त को भी पूर्णता का दावा करने वाले 'कम्युनिज्म' की अवधारणा ने प्रभावित किया। इसलिए देवीदत्त एम.एन. राय के जरिए 'कम्युनिज्म' से जुड़ते हैं। 'कम्युनिज्म' की क्रांति द्वारा विश्व व्यवस्था में परिवर्तन लाने की विचारधारा तत्कालीन औपनिवेशिकता में जकड़े हुए देशों के युवाओं को परिवर्तन की संभाव्यता के प्रति आश्वस्त करती थी। शोषण पर आधारित विश्व व्यवस्था को बदलने का –वैज्ञानिक विचार' 'कम्युनिज्म' ने दिया था। 'कम्युनिज्म' ने इतिहास की व्याख्या द्वारा यह सिद्ध किया कि उत्पादन के साधनों में परिवर्तन द्वारा एक वर्गहीन समाज की स्थापना संभव है और यह परिवर्तन वर्ग–संघर्ष द्वारा लाया जा सकता है। ख़ैर धर्म को एक अस्पष्ट आदर्शवाद मानकर यह विचारधारा धर्म की आलोचना इस आधार पर करती है कि इसका स्वर्ग ऐतिहासिक प्रक्रिया से बाहर है। इसके विपरीत 'कम्युनिज्म' इस धरती को ही सुखमय बनाने का आदर्श रखता है। डा० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'रिकवरी ऑफ फेथ' में लिखा है कि ''कम्युनिज्म धार्मिक व्यवहारों की विसंगतियों पर एक निर्णय है।''[10] किंतु बाद में चलकर 'कम्युनिज्म' खुद

एक आस्था का विषय बना दिया जाता है। रूस में 'कम्युनिज्म' के पतन का कारण बताते हुए दार्शनिक निकोलस वर्दयेव ***(Nicholas Berdyaev)*** ने लिखा है कि ''कम्युनिज्म खुद में एक धर्म बनना चाहता था। और वह बना। कैथोलिक और रूढ़िवादी विचार पद्धतियों की तरह। लेकिन वह पद्धति उलट गई।''[11] इसके अतिरिक्त यह सर्वविदित है कि 'कम्युनिज्म' सैद्धांतिक व सांगठनिक रूप से 'युनिवर्सल' होने का दावा करते हुए भी व्यवहारिक रूप से रूस की निजी संपत्ति बन गया। एम.एन.राय का कम्युनिज्म से मोहभंग होने का एक कारण यह भी था। व्यवहारिक सीमाओं के साथ–साथ 'कम्युनिज्म' की सैद्धांतिक सीमाएँ भी अब स्पष्ट हो चली हैं। इन सीमाओं को रेखांकित करते हुए डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं: ''नस्ल, धर्म, लिंग, जाति या भाषा आदि पर आधारित उत्पीड़न एक वास्तविकता है। ऐसी वास्तविकता जिसे पूँजीवाद का साइड इफेक्ट कहकर डिसमिस नहीं किया जा सकता और न ही इसके शिकारों से यह उम्मीद की जा सकती है कि वे अस्मितापरक उत्पीड़न की वास्तविकता को शोषित वर्ग की अंतिम विजय की मंगलवेला तक के लिए दिमाग से निकाल दें।''[12] यही नहीं 'कम्युनिज्म' की लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक सामूहिकता में व्यक्ति की वैयक्तिकता का विलोपन और उसकी आत्मिक जिज्ञासा का कोई समाधान यह विचारधारा प्रस्तुत कर पाने में अक्षम रही है।

व्यवहारिक और सैद्धांतिक सीमाओं के उपर्युक्त रेखांकन से देवीदत्त जैसे पूर्णता की तलाश में लगे व्यक्ति का 'कम्युनिज्म' से मोहभंग होना स्वाभाविक था। इसी बीच देवीदत्त की मुलाकात बर्लिन में जवाहरलाल नेहरू से होती है और वे 'नेहरू की राजनीति के कट्टर विरोधी' होने के बावजूद उनके व्यक्तित्व से बेतरह प्रभावित होते हैं। नेहरू प्रबल राष्ट्रवादी थे। उनके लिए 'राष्ट्रवाद' वस्तुतः अतीत की उपलब्धियों–परंपराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति था। वे रवीन्द्र नाथ टैगोर के 'संश्लेषणात्मक सार्वभौमवाद' को अपने राष्ट्रवाद का आधार बनाते हैं। वे महात्मा गाँधी के इस विचार कि वर्ग–भेद का शांतिपूर्ण समाधान संभव है, के हिमायती थे। ऐसा नहीं था कि नेहरू 'राष्ट्रवाद' खतरों से अनजान थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलक' में 'राष्ट्रवाद' के खतरों से आगाह करते हुए लिखा था कि 'राष्ट्रवाद' एक 'अविश्वस्त मित्र' और 'असुरक्षित इतिहासकार' है। यह बहुत सारी घटनाओं के प्रति हमारी आँखों पर पट्टी बाँध देता है, और कभी–कभी सच्चाई तोड़–मरोड़ पेश करता है, खासकर तब जब इसका सरोकार अपने देश से हो। 'राष्ट्रवाद' के विकास के साथ–साथ 'मेरा देश सही या गलत' का विचार भी पनपा है और राष्ट्रों ने ऐसे कारनामें करते हुए गौरव का अनुभव किया है जो व्यक्तियों के मामले में बुरे और अनैतिक समझे जाते हैं। यही कारण है कि नेहरू ने 'हिंदू महासभा' जैसे प्रतिक्रियावादी संगठनों की कड़ी आलोचना की थी और

लोकतंत्र के सिद्धांत को महात्मा गाँधी के नैतिकता के साथ मिलाकर एक नया रूप देने की कोशिश की थी। उन्होंने 'भारत की एकता' (1939) शीर्षक अपने निबंध में यह विचार व्यक्त किया था कि समानता के बगैर स्वतंत्रता और लोकतंत्र कोई अर्थ नहीं है। जीवन भर अपने घनाढ्य जीजा को 'मनीबैग्स' कहने तथा शंकालु दृष्टि से देखने वाले देवीदत्त को नेहरू अपनी तमाम समाजवादी सोच के बावजूद किस वर्ग के प्रतिनिधि लगे, यह उनके द्वारा ''लखनऊ के 1936 के कांग्रेस अधिवेशन में जूलूस की भीड़ से चारों ओर से घिरे हुए घोड़े पर सवार जवाहर लाल की''[13] खींची गई तस्वीर से स्पष्ट हो जाता है। तद्नन्तर देवीदत्त का लोहिया की तरफ आकर्षित होने का एक कारण दोनों का 'नेहरू की राजनीति का कट्टर विरोधी होना' भी बनता है।

लोहिया गैर कांग्रेसवाद के पक्षधर थे और प्रारंभ से ही 'मार्क्सवाद' विरोधी थे। वे 'मार्क्सवाद' को नस्लवादी षणयंत्र का परिणाम मानते थे। उनकी सोच थी कि रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात 'मार्क्सवाद' को गोरी जाति का शेष दुनिया पर प्रभुत्व कायम करने के लिए लाया गया। लोहिया नेहरू द्वारा पाश्चात्य देशों के अनुकरण पर आधारित औद्योगीकीकरण के भी विरोधी थे। वे अपने चिंतन का आधार दस्तकारों, किसानों और दुकानदारों को बनाते हैं, जिन्हें औद्योगिक पूँजीवाद से खतरा उत्पन्न हो गया था। वे कुटीर उद्योग और लघु पैमाने के मशीन–आधारित औद्योगीकीकरण के पक्षधर थे। वे 'कम्युनिज्म' की तरह सर्वहारा वर्ग को 'क्लीनचिट' देने के हिमायती नहीं थे। उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था के साथ अपने निहित स्वार्थों के कारण सर्वहारा वर्ग के जुड़ जाने और अपना क्रांतिकारी चरित्र खो देने को रेखांकित किया था। वस्तुतः लोहिया व्यक्ति को किसी विचारधारा विशेष से बँधने के बदले सर्वग्राही होने के समर्थक थे।''[14] अतेव देवीदत्त जैसे 'पूर्णता की खोज' में लगे व्यक्ति का लोहिया से प्रभावित होना स्वाभाविक था।

यहाँ यह सवाल प्रासंगिक हो जाता है कि देवीदत्त ने अपनी वैचारिक यात्रा जिस 'गाँधीवाद' से शुरू की थी, क्या उसी 'गाँधीवाद' पर उनकी वापसी होती है या किसी और तरह का 'गाँधीवाद' उनका अभिप्रेत हो चला था ? असल में, अपनी संक्रमणकालीन चेतना की गतिशील प्रवृत्ति के कारण देवीदत्त को यह एहसास होता है कि कोई भी विचारधारा पूर्णता की चाह रखने वाले को पूर्णता की उपलब्धि नहीं करा सकती है। वे अपने जीवनानुभव से सीखते हैं और जीवनानुभव से उनकी विश्वदृष्टि प्रभावित होती चलती है। अपने सर्वग्राही व्यक्तित्व के कारण वे पूर्णता का दावा करने वाली विपरीत विचारधाराओं के संपर्क में आते हैं। एक तरफ वे जर्मनी में हिटलर की सभा में उपस्थिति रहते हैं तो दूसरी तरफ 'कम्युनिज्म' से जुड़ते हैं। एक ओर वे गाँधी से आकर्षित होते हैं तो दूसरी ओर नेहरू और लोहिया के

विचार उन्हें प्रभावित करते हैं। इतना ही नहीं, वे विचारधाराओं के प्रभावों का मूल्यांकन करने के लिए बंबइया फिल्मों से भी जुड़ते हैं यह मानते हुए कि ''महात्मा गाँधी के बाद किसी ने इतने बड़े पैमाने पर जनमानस को प्रभावित किया, तो बंबइया फिल्मों ने ही।''[15] वे देखते हैं कि विचारधाराओं के बरक्स समाज को प्रभावित करने वाली बंबइया फिल्में किस तरह के 'मूल्यों' को बढ़ावा दे रही हैं। यही कारण है कि 'वल्गैरिटी' को 'एंटरटेन्मेंटवैल्यू' मानने वाले डायरेक्टरों से देवीदत्त का प्रेमचन्द की तरह मोहभंग होता है। प्रेमचंद की इस व्यथा, कि ''वे जो प्लाट सोचते हैं उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है कि उसमें कोई मनोरंजन का तत्व नहीं होता''[16] को आत्म संदर्भित करने पर देवीदत्त अपने प्रति भी शंकालु हो जाते हैं कि ''क्या प्रेमचन्द यह इंगित कर रहे हैं कि उनका ढुममुल आदर्शवाद रहा है– कभी एक तरफ लुढ़का कभी दूसरी तरफ और कभी किसी और तरफ ?''[17] 'जागै अरू रोवै' की पीड़ा को अमूमन समाज यही दर्जा देता है।

सिद्धांत और अनुभव से गुजर कर देवीदत्त इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वर्तमान की समस्याओं का समाधान किसी एक विचारधारा से संभव नहीं है। 'गाँधीवाद' को वे पुनः स्वीकार करते हैं कि क्योंकि यहाँ विचारों के सामंजस्य का पर्याप्त अवकाश है। इसीलिए देवीदत्त गाँधीजी के साथ नेहरू और लोहिया के विचारों के भी अनुयायी बनते हैं। वस्तुतः उनकी वैचारिक यायावरी की परिणति रवीन्द्रनाथ टैगौर के शब्दों में–

बहुत देश घूम कर
बहुत पैसे खर्च कर
देखने गया पहाड़, नदी, नाले, निर्झर
पर अफसोस कि मैं देखना भूल गया
मेरे घर के ठीक सामने
धान के पौधे के शीश पर
पड़ी शबनम की एक बूँद।

ज्ञान की प्रकृत परंपरा–वैज्ञानिकता और तार्किकता–के बरक्स चीजों को सहज बनाने की बेचैनी उन्हें 'कम्युनिज्म' से गाँधीवाद पर ले आती है। वैसे भी गाँधी की अदम्य ऊर्जा और अनवरत सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति देवीदत्त जैसे किसी भी व्यक्ति के लिए सच्चे आत्मानुसंधान का प्रेरक बन सकती है। सिद्धांत की अमूर्त पवित्रता और व्यवहारिक चुनौती की कड़ी वास्तविकता गाँधी के यहाँ आकर अपना अंतर भूल जाती है। बाइबिल के इस धार्मिक सूत्र 'पाप से घृणा करो पापी से नहीं' के आधार पर गाँधी ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था विकसित करने की कोशिश करते हैं जिसमें 'स्वयं' और अपनी धार्मिक,

प्रजातीय, भाषायी या राजनीतिक अस्मिता के कारण स्थायी प्रतिपक्ष के रूप में चिन्हित 'अन्य' जेसे किसी भेद का निषेध किया गया हो। अछूतोद्धार और हरिजन कल्याण जैसे उनके कार्य तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष में उनका अंग्रेजों से घृणा न करने का व्यवहार उनके इसी दृष्टिकोण का अंग' था। उनका उद्देश्य शोषक और शोषित की भूमिकाओं में अदला–बदली कर देने का न होकर मुनष्य के समूचे भावतंत्र को बदलने पर था। सत्य, अहिंसा और मनुष्य के भावतंत्र में परिवर्तन के जरिए गाँधी ने सत्ता तंत्र और व्यक्ति द्वारा खुद अपनी नैतिक पड़ताल करने पर जोर दिया। 'साधन की शुचिता' पर बल उनका इसी कारण से था कि साध्य की प्राप्ति के नाम पर साधनों के दुरूपसरेग का उन्हें बखूबी अनुमान था। किसी भी विचारधारा के नाम पर उसके अनुयायी साधनों का कैसा दुरूपयोग करते हैं, यह मार्क्सवाद (स्टालिन आदि) और 'राष्ट्रवाद' (हिटलर और भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रतिक्रियावादी संगठन) के संदर्भ में समझा जा सकता है।

डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में "कहने की जरूरत नहीं कि इस या ऐसे किसी भी वाक्यांश में गाँधी सिर्फ किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का वाचक शब्द नहीं है। वह कुछ मूल्यों का;' व्यक्ति और समाज के प्रति एक जीवन दृष्टि विशेष का वाचक है। उन्हीं मूल्यों का जिन्हें एकदम खारिज कर देना संभव नहीं है और जिनकी कसौटी पर अपने व्यवहार को आँकना भी संभव नहीं है।'[18] नोआ खाली के दंगों की समाप्ति के लिए उस की गलियों में भटकने का नैतिक साहस रखने वाले तथा ख्वाजा बख्तियार के दरगाह की पुनर्प्रतिष्ठा को प्राणों से बढ़कर मानने वाले गाँधी के बरक्स आज गाँधी के मूल्यों को एक निश्चित, निर्विकार, स्पंदनहीन पूज्य प्रतिमा में बदल दिया गया है। उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रश्नातीत मिथक बन गया है। उनकी धार्मिकता को नैतिक विवेक से काटकर आस्था मात्र में तब्दील कर दिया गया है। अस्पृश्यता को हिंदू समाज का कलंक कहकर लोकमानस को झकझोरने वाले गाँधी आज लोकमानस के कुछ आत्मनियुक्त प्रवक्ताओं की दृष्टि में लोकमानस को आहत करने लगे हैं। गहरी विडम्बना है कि गाँधी की हत्या कराने वाली तथा गुजरात के दंगों का नेतृत्व करने वाली विचारधारा आज गाँधी के प्रतिमा पूजन में सबेसे आगे है। जिन विचारों और मूल्यों को लेकर गाँधी चले थे उन्हीं के विपरीत विचारों और मूल्यों को उनकी प्रतिमा में समाहित कर दिया गया है। इसलिए आज "गाँधी या तो असंभव आदर्श के प्रतीक बन गए हैं या फिर मजबूरी के।"[19] उनकी प्रतिमा के निर्माण में उनके अनुयायियों का कम योगदान नहीं है। मोराजी भाई जैसे उनके अनुयायी केवल चर्खा चलाने में लगे रहे और गाँधी टोपी तथा खद्दर का कुर्ता पायजामा पहने लोग देश को लूट रहे हैं। गाँधी की संवेदनशील कर्मठता को उनके अनुयायियों ने भावशून्य ध्यान और निर्वैचारिकता में बदल दिया है।

'गाँधीवाद' और भारत की असफलता के मूल में यही पूजाभाव है, जो हर मूल्य, यथार्थ को उदान्त प्रतीकों मे रूपान्तरित कर पूज्य बना डालता है और मूल्य विकृत कर दिए जाते हैं तथा यथार्थ घिनौना बना रहता है। मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी बुद्ध की आज विश्वभर में सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। मठ या पंथ के विरोधी कबीर के नाम पर आज सबसे ज्यादा मठ या पंथ हैं। लोगों द्वारा प्रतिमा पूजन की इसी प्रवृत्ति पर देवीदत्त टिप्पणी करते हैं कि ''देखना एक दिन इस देश में गाँधी से अधिक अम्बेडकर की मूर्तियाँ होंगी।''[20] इसी कारण से देवीदत्त यह निर्णय करते हैं कि वे 'स्वराज गाँधी' नाम से चुनाव लड़ेंगे क्योंकि वे दिखाना चाहते थे कि ''कुछ लोग गाँधी के नाम को कैसे भुना रहे हैं?''[21]

देवीदत्त लोकतंत्र के अंदर पाँव फैलाते राजतंत्र को लेकर भी चिंतित थे इसी से उन्होंने लोहिया के इस कथन कि ''भारत का जनतंत्र राजा–रानियों को तो पचा लेगा, पर ये जो नए–नए राजा–रानियाँ निकले हैं– कोई तथाकथित बड़ा आदमी पैदा हुआ, उसके लड़के या लड़कियाँ आ खड़े होते हैं, उनका क्या होगा ?''[22] से प्रभावित होकर देश को आपातकाल के बाद 'एक तीसरी आजादी' के जरूरत की भविष्यवाणी कर डाली थी। वर्तमान लोकसभा में ऐसे लोगों की संख्या को देखते हुए देवीदत्त की भविष्यवाणी निश्चित रूप से कुछ सोचने को बाध्य करती है।

गौर करने वाली बात है कि देवीदत्त अपनी गतिशील मानसिक वृत्ति के कारण जिन–जिन महापुरुषों का दामन पकड़ते हैं; उनकी भी वैचारिकता का इतिहास स्थिर नहीं था। गाँधी निरंतर सत्यान्वेषण के हिमायती थे। अपने प्रयोगों के बारे में उनका कहना था कि ''मैं किसी प्रकार की संपूर्णता का दावा नहीं करता .... वे सच हैं अथवा वे ही सच हैं, ऐसा दावा मैं कभी नहीं करना चाहता।''[23] गाँधी का जीवन ही 'सत्य के लिए अनवरत प्रयोग' था। देवीदत्त के दूसरे आकर्षण एम.एन.राय भी वैचारिक दृष्टि से गतिशील मस्तिष्क के थे। प्रारंभ में वे 'कम्युनिज्म' के समर्थक थे किंतु बाद में चलकर वे 'नवमानवतावाद' की अवधारणा का विकास करते हैं। नेहरू आरंभ में 'मार्क्सवाद' से प्रभावित गाँधी के अनुयायी थे तद्नन्तर वे 'समाजवाद' की तरफ आकृष्ट हो जाते हैं। देवीदत्त के अंतिम आकर्षण लोहिया 1930 के दशक तक नेहरू के कट्टर समर्थक थे किंतु 1950 के दशक से नेहरू विरोधी होकर वे गैर–कांग्रेसवाद आधारित 'समाजवाद' की राजनीति करने लगते हैं। उल्लेखनीय है कि देवीदत्त लोहिया के पश्चात पूर्णता या आदर्श सिद्धांत की तलाश बंद कर देते हैं। शायद भावनाओं–स्वार्थों और विचारधारा विहीन राजनीति करने वालों से वे यह अपेक्षा भी नहीं करते हैं।

(ख) इतिहास का पुनर्पाठ

इतिहास को अपनी स्मृति से देखने के क्रम में एक दूसरी तरह का इतिहास बोध इस उपन्यास 'शेष कांदबरी' में मि.वियेना की इतिहास व्याख्या द्वारा प्रत्यक्ष होता है। मि. वियेना 1893 ई० में बीस साल की उम्र में 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' मे पत्रकार बनकर लाहौर आए थे। मि.वियेना रूबी गुप्ता के पिता की दृष्टि में इतिहास के गहरे जानकार और खब्ती विद्वान थे। वे भारत के बारे में 'इंडियन पीप शो' नामक पुस्तक लिख रहे थे जिसमें 'जादुई नजर से देखी गई एक जादुई दुनिया' का जिक्र था। इस जादुई दुनिया में साँप, मोर, बंदर से जुड़ी किस्सा–कहानियाँ, हठयोगियों और लोगों की धार्मिक संवेदनाओं का फायदा उठाने वाले साधु–यतियों के कृत्यों को सम्मिलित किया गया था। इसमें मि.वियेना जहाँ एक तरफ आस्थाप्राण देश के विवेकहीन आस्था के खतरों को रेखांकित करते हैं मसलन–'कृष्ण–राधा के साथी मोर का शिकार करने वाले साहब का गाँव वालों ने घेराव कर लिया' और –किसी जगह रावण के विरुद्ध राम का साथ देने वाले बंदरों के कारण बानर जनसंख्या इस कदर बढ़ गई कि लोगों का जीना मुहाल हो गया', के विपरीत ऐसी भी चीजों पर विमर्श की संभावना की तलाश करते हैं जिन्हें जादू–टोना या टोने–टोटके कहकर सभ्य समाज से खारिज कर दिया जाता है। वे अपनी कल्पित पुस्तक के बारे में कहते हैं कि उसमें – ''साँप का विष कपड़े में फुँफकार करवाकर इकट्ठा करने वाले ओझाओं का भी उसमें जिक्र होगा, जो बड़ी–बड़ी असाध्य बीमारियों का इलाज उस विष से करते हैं।''[1] और वे इस देश के निवासियों का जिक्र करते हुए कहते हैं कि ''...सारा जंगल चुप था पर हमारे साथ के कुली मजदूर लगातार हँस बोल रहे थे। कितन हँसते हैं इस देश के लोग, मैंने सोचा। शायद उन्होंने जिंदगी को संतोष की गरिमा से जान लिया है।''[2] 'संतोषं परम् सुखम' को जीवन का आदर्श तथा धर्म को ही जीवन का पर्याय मानने वाले देश में धर्म के बगैर किए गए किसी भी बौद्धिक विमर्श की परिणति क्या हो सकती हैं, इसके बारे में अलका सरावगी अपने पहले उपन्यास से ही इसको रेखांकित करती रहीं हैं कि ''भारतवर्ष में धर्म किसी भी हिटलर से बड़ी शक्ति है और इस बात को समझकर भी न समझने वाले हमेशा औंधे मुँह ही गिरते हैं।''[3] स्वाधीनता आंदोलन में गाँधी द्वारा धर्म के सकारात्मक प्रयोग की सफलता से विमर्शकारों को इस बात का एहसास होना चाहिए कि लगभग एक अरब आस्थावानों की आस्था को एकाएक खंडित नहीं किया जा सकता। इसलिए बेहतर है कि उनकी आस्था को नैतिक विवेक से पुष्ट कर एक सकारात्मक दिशा दी जाय। 'धर्म को अफीम' मानकर लोगों से स्वतः ही धर्म से मुक्त होने की आशावादिता आस्थावान लोग ही कर सकते हैं। जरूरत

भारतीय संदर्भ में धर्म की भूमिका के विस्तृत विवेचन और लोगों की विवेकहीन आस्था से टकराने की हैं, अन्यथा भावनाओं और आस्थाओं की राजनीति करने वालों के लिए धर्म का शत्रुहीन रणक्षेत्र खुला ही है जिसमें और न जाने कितने गाँधी लुहलुहान होते रहेंगे।

इतिहास को अपनी स्मृति में उकेरकर उसे अपनी कथा का हिस्सा बना देना अलका सरावगी के लेखन का खूबसूरत शगल रहा है। यह अकारण नहीं है कि इतिहास उनकी रचनाओं मे बार–बार चला आता है। 'शेष कादंबरी' में कांदबरी रूबी दी से कहती है कि "आदमी अपने इतिहास से बच नहीं सकता। उसकी ईमानदारी इसी मे है कि वह इतिहास की स्मृतियों में उतरे, उन्हें बचाकर ही अपने जीवन को बचाए।"[4] इतिहास के प्रति अपनी इसी ईमानदारी के तहत सरावगी अपने पहले उपन्यास 'कलिकथा वाया बाइपास' में अपने अतीत की ओर लौटती हैं और मारवाड़ी समुदाय के इतिहास का पुनर्पाठ रचती हैं जिसके द्वारा – एक तो, मारवाड़ियों ने अंग्रेजों का साथ देकर देश के साथ धोखा किया और दूसरे मारवाड़ी घोर अंधविश्वासी, घनलोलुप, काँइया तथा मानसिक–बौद्धिक रूप से पिछड़े होते हैं– जैसे आरोपों का खण्डन करती हैं। 'कलिकथा ...' में वे तर्क देती हैं कि "जिस मीर जाफर ने सिराजुद्दौला से दगा किया, उससे खुद उनका खून का रिश्ता था। ताकत और पैसे के पीछे पागल लोगों की कोई अलग जाति नहीं होती। क्या सबसे पहले बंगालियों ने ही अंग्रेजों को यहाँ पाँव जमाने में मदद नहीं की थी ?"[5] और क्या बंगाली व्यवसायियों के अंग्रेजों से अच्छे संबंध नहीं थे ? उल्लेखनीय है कि कलकत्ता के संस्थापक माने जाने वाले जॉब चारनॉक ने स्थानीय जमींदार सबर्ण चौधरी से तीन गाँवों– सूतानूती, कोलकाता और गोविंदपुर– को खरीद कर कलकत्ता शहर की स्थापना की थी। यह भी गौरतलब है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर के पितामह द्वारिका नाथ टैगोर बंगाल के प्रसिद्ध उद्योगपति थे। उनके अंग्रेजों से बहुत अच्छे संबंध थे; किंतु आज टैगोर परिवार को बंगाली अस्मिता का प्रतीक माना जाता है। इसके विपरीत मारवाड़ियों को एक लंबे समय तक देशद्रोही का दर्जा दिया जाता रहा है, जिसके कारण समूचा मारवाड़ी समुदाय एक प्रकार की हीनता ग्रंथि का शिकार हो गया था। सेठ अमीचन्द से संबंधों में जुड़ने वाले हिंदी साहित्य के भारतेंदु हरिश्चन्द्र भी इस ग्रंथि से मुक्त न थे। प्रश्न यहाँ यह है कि क्या एक या दो लोगों के कार्यों के आधार पर समूचे समुदाय को उसका अपराधी मान लेना उचित है ? विडम्बना है कि आजकल इस तरह के 'एसेंसिलाइजेशन' का प्रचलन कुछ अधिक हो चला है।

मारवाड़ी समुदाय अंग्रेजों के भारत में आने के समय ही राजपूताने में अकाल पड़ने के कारण मारवाड़ से कलकत्ता आते हैं। 'संपत होय तो घर भलो नहीं भलो परदेस' का संकल्प लेकर आने वाले मारवाड़ियों ने 'जदि निर्वासने पाठाबेई कलिकाता' पर कलकत्ते में निर्वासन

का समय नहीं काटेगा, वह कलकत्ता वास करेगा' के द्वारा निवासन और वास के बीच द्वन्द का समाधान तो कर लेते हैं, किंतु उनके मन में अपनी जमीन अपनी संस्कृति से बिछड़ने की कसक रह जाती है। कलकत्ता में गंगा की पवित्र धारा उनकी धार्मिकता का एकमात्र संबल होती है। मारवाड़ियों के बंगाल आने पर यहाँ के स्थानीय बंगाली व्यापारियों से इनकी प्रतिस्पर्धा होती है, जिसमें वे स्थानीय व्यापारियों को पीछे छोड़कर अर्थ–व्यापार पर अपना वर्चस्व स्थापित करते हैं। जिस समय मारवाड़ी लोग यहाँ स्थापित हुए उस समय बंगाल में बंगाली जाति की श्रेष्ठता का आंदोलन चल रहा था और साथ ही मारवाड़ियों को 'मेडो' या 'खोट्टा' होने का एहसास भी कराया जा रहा था। कहना न होगा कि जिस बंगाल की तस्वीर आज हमारे समक्ष है उसके निर्माण में बंगालियों के साथ–साथ मारवाड़ियों की प्रमुख भूमिका रही है। समस्त आर्थिक कार्य–व्यापार मारवाड़ियों के द्वारा संपन्न किया जाता रहा है किंतु बंगाली 'राष्ट्रवाद', बंगाली आत्मगौरव, 'सोनार बॅग्ला' जैसे अभियानों में मारवाड़ी कहीं नहीं हैं; ठीक वैसे ही जैसे आजकल बहुप्रचारित 'फील गुड' और 'इंडिया शाइनिंग' में आम भारतीय की उपस्थिति गौण है। दरअसल बंगाल में बसे मारवाड़ियों का कोई स्पष्ट इतिहास नहीं है। वैसे भी इतिहास उन्हीं लोगों का लिखा गया है जिनकी अस्मिताएँ सुनिश्चित एवं स्पष्ट थीं। ऐसे लोगों का कोई इतिहास नहीं माना जाता, जिनकी स्पष्ट अस्मिताएँ न हों। मारवाड़ से समूचे भारत में बिखरे मारवाड़ियों की स्थिति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि समूची भारतीय अर्थव्यवस्था का नियंत्रण उनके हाथ में होने के बावजूद राजनैतिक स्तर पर उनकी उपस्थिति नगण्य है। ठीक उसी तरह जैसे इजरायल से दो हजार साल पहले निकाले गए यहूदियों के पास द्वितीय विश्व युद्ध तक समूचे यूरोप के व्यापार पर कब्जा होने के बावजूद विश्वस्तर पर कोई राजनैतिक प्रतिनिधित्व नहीं था। मारवाड़ियों की तरह यहूदियों को भी समूचे यूरोप में काफी हेय दृष्टि से देखा जाता था। यहाँ तक कि साहित्य में यहूदियों की स्थिति मारवाड़ी 'बाणिए' की थी। स्मरणीय है कि शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का क्रूर महाजन शाइलॉक यहूदी था। ख़ैर, उपनिवेशवाद के समय बंगाली अस्मिता सोनार बँग्ला, बंगाली राष्ट्रवाद और बंगाली जाति के बरक्स मारवाड़ी समाज अस्मिताविहीन होकर रह जाता है। इस पर तुर्रा यह कि बंग्ला संस्कृति की उपनिवेशवाद विरोधी छवि के विपरीत मारवाड़ियों की छवि 'महाजनी सभ्यता के प्रतिनिधि', 'अल्पशिक्षित', 'रूढ़िवादी', 'सूदखोरी के साथ विलक्षण व्यापार–बुद्धि और कांइयापन तथा उस 'बाणिए' की बनाई गई जिसके पूर्वज सिर्फ पैसा कमाने राजस्थान की मरूभूमि से निकलकर भारत के बड़े शहरों में आ बसे थे। इस छवि के दंश को मारवाड़ी समाज किसी न किसी रूप में भोगने के लिए आज भी अभिशप्त हैं।

बंगाल जैसे 'उन्मुक्त समाज' से मारवाड़ी अपने आपको जोड़ नहीं पाते हैं और अपने रीति–रिवाजों तथा परंपराओं को अपनी अस्मिता से जोड़कर उसकी रक्षा उतनी ही सर्तकता से करते हैं जितनी कि अपने धन की करते हैं। अकारण नहीं है कि इस समाज लोग पारंपरिक, रूढ़िवादी और धर्मभीरू होते हैं। इस संदर्भ में किशोर बाबू के दोस्त शांतनु का मारवाड़ी जाति के संदर्भ में कथन स्मरण हो आता है कि "तुम लोगों के दिमाग पर मरूभूमि के अकाल की छाया हमेशा के लिए पड़ गई है। अ–काल माने वह काल जो तुम्हारे मन के अनुरूप न हो। तुम लोग हमेशा भविष्य के लिए अशंकित रहते हो– इतने अंधविश्वासी होने का कारण भी यही है।"[6] असल में, अपनी जड़ों से कटे इन लोगों का जहाँ भी ये गए, वहाँ के स्थानीय लोगों के आचार विचार, रीति–रिवाज, रहन–सहन से इनका द्वन्द हुआ जिसके कारण इन लोगों में 'अपनी' परंपरा और संस्कृति पर लगाव दृढ़ता होता गया। 'डायस्पोरा साहित्य' के वैचारिक स्तर पर दक्षिण पंथ के इतना निकट होने का कारण यही है। विश्वभर में फैले यहूदियों की धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादिता के मूल में भी यही है।

व्यापार के प्रचार–प्रसार के लिए यहूदियों की तरह मारवाड़ियों ने भी राजनैतिक तटस्थता की नीति अपनायी थी। हलाँकि यह विवाद का विषय हो सकता है कि अंग्रेजों के प्रति सद्भाव मारवाड़ियों की व्यापार नीति का हिस्सा था, अथवा तत्कालीन सामंतों–रजवाड़ों के शोषण की प्रतिक्रिया या फिर बंगालियों से स्पर्धा और उनको लेकर पनपने वाली हीनता ग्रंथि का नतीजा या थोड़ा–थोड़ा सब कुछ।[7] किंतु ऐतिहासिक सत्य है कि राजस्थान की तुलना में बंगाल में व्यापार के लिए परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल थी। व्यापारिक गतिविधियों के लिए आवश्यक सुरक्षा तथा शांति व्यवस्था तत्कालीन बंगाल सरकार सुनिश्चित करती थी। बंगाल में चुंगी की दर भी काफी कम थी। अतेव मारवाड़ियों के लिए जल में रहकर मगर से बैर करने की सभ्ाावना उनकी व्यवसायिक परिस्थितियों के प्रतिकूल थी।

'शेष कांदबरी' में भी अलका सरावगी मि.वियेना के बहाने इतिहास की पड़ताल द्वारा पुनर्पाठ निर्मित करती हैं। सरावगी मि. वियंना के बहाने औपनिवेशिक इतिहास लेखन की पद्धति पर भी प्रकाश डालती हैं। मि.वियेना अपनी कल्पित पुस्तक के आठवें अध्याय की चर्चा करते हुए कहते हैं– "सच पूछो तो कलकत्ता को बनाया ही अफीम ने। उसी से इतना पैसा यहाँ आया। यह शहर अठारह सौ पचास तक सिटी ऑफ पैलेसेस बनने लगा– पुराना हाईकोर्ट, सेंट जान चर्च, गवर्नमेंट हाऊस राइटर्स बिल्डिंग, इंडियन म्यूजियम– कलकत्ता की ये सारी भव्य इमारतें उसी समय के आस–पास बनी हुई हैं।"[8] वियेना महोदय की दूसरी स्थापना है कि "... तब मुझे समझ में आया कि भारत के लोग रेल लाइन बिछाने और नहरे–खान खोदने के खिलाफ इसलिए नहीं हैं कि वे मूर्ख या अधंविश्वासी हैं बल्कि इसलिए

कि वे धरती को माँ मानते हैं।''[9] दोनों स्थापनाएँ एक दूसरे से अन्तर्गुम्फित हैं। फिलहाल, दोनों स्थापनाओं पर विचार करने से पहले ई.एच.कार के इस कथन पर गौर करते हैं कि ''इतिहास के तथ्य मछुआरे की पटरी पर पड़ी मछलियाँ नहीं हैं, वे जीवित मछलियों की तरह हैं जो एक विशाल तथा अगाध समुद्र में तैर रही हैं। इतिहासकार के हाथ में कौन सी मछली आएगी यह कुछ संयोग पर निर्भर करता है मगर मुख्यतः इस बात पर निर्भर करता है कि वह समुद्र के किस हिस्से में मछली मारने का इरादा रखता है और किस ढंग से काँटो का इस्तेमाल करता है। कुल मिलाकर इतिहासकार जिस प्रकार के तथ्यों की खोज कर रहा है उसी प्रकार के तथ्यों को पाएगा। इतिहास का अर्थ है व्याख्या।''[10] ई.एच.कार के इस कथन के आलोक में मि. वियना की स्थापनाओं पर विचार करते हैं। वियेना महोदय बताते तो हैं कि ''चीन में अफीम को लेकर दो बड़ी लड़ाइयाँ हुईं।''[11] और सर सरूपचन्द हुकुमचन्द ने अफीम के व्यापार से दो सौ लाख रूपए कमाए। लेकिन वे यह नहीं बताते कि लड़ाइयाँ क्यों हुई और अफीम के व्यापार से ब्रिटेन को कितना लाभ हुआ ? 'अश्वत्थामा हतो' की मुद्रा में मि. वियेना इसका तो जिक्र करते हैं कि कलकत्ता को अफीम ने बनाया किंतु इसका कतई उल्लेख नहीं करते कि अफीम ने ब्रिटेन सहित पश्चिमी देशों को क्या बनाया ?

तथ्य है कि चीन में 1839 ई० और 1856 ई० में अफीम को लेकर दो युद्ध हुए किंतु इसके पीछे की वास्तविकता यह है कि ये लड़ाइयाँ ब्रिटेन सहित पश्चिमी देशों ने अपना बाजार कायम करने हेतु लड़ी थीं। चीन के विशाल बाजार पर अपना कब्जा जामने हेतु अंग्रेज व्यापारियों ने 1781 ई० में पूरी तैयारी के साथ पहली बार भारतीय अफीम को चीन में भेजा था। इसके बाद यह व्यापार दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ता गया। शीघ्र ही ऐसी स्थितियाँ बन गईं जिससे चीन से निर्यात होने वाली चाय, रेशम और अन्य वस्तुओं के बदले अफीम का मूल्य चुकाने के लिए चीन देश की चाँदी अंदर आने के बदले देश से बाहर जाने लगी थी। इससे और अन्य शारीरिक दुष्प्रभावों से चिंतित होकर चीनी सम्राट ने चीन में अफीम के आयात–निर्यात पर प्रतिबंध (1800 ई०) लगा दिया किंतु तब तक बहुत से लोग इसके आदी (एडिक्ट) हो चुके थे। व्यापारियों तथा अफसरों के भ्रष्टाचार की वजह से तस्करी और घूसखोरी ने इस प्रतिबंध को निष्प्रभावी बनादिया। रोग यहाँ तक बढ़ गया कि अमेरिकी व्यापारियों ने चीन में भारतीय अफीम की कमी को पूरा करने के लिए तुर्की की अफीम को भी चीनी बाजार में भेजना शुरू कर दिया। बिगड़ती आर्थिक परिस्थितियाँ चीनी सरकार को कठोर कदम उठाने के लिए बाध्य किया और चीन का ब्रिटेन एवं पश्चिमी देशों से युद्ध अवश्यंभावी हो गया।

अंग्रेजों ने अपनी औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों के तहत भारत में व्यवसायिक फसलों--कच्ची रेशम, अफीम, नील, कपास, चीनी, चाय--आदि की खेती को बढ़ावा दिया जिससे परंपरागत कृषि व्यवस्था चौपट हो गई। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के कारण कच्चे माल की आवश्यकता बढ़ गई थी। इसलिए अंग्रेज भारत जैसे उपनिवेशों को कच्चे माल के निर्यातक एवं तैयार माल के आयातक देश के रूप में विकसित करना चाहते थे। इसी नीति के तहत वे नील, कपास जेसी व्यवसायिक फसलों को अपने सूती वस्त्र उद्योगों के कच्चे माल के रूप में बढ़ावा देते थे और भारत को ब्रिटेन के कारखानों में बने सस्ते कपड़ों का निर्यात करते थे। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि भारत के लघु गृह उद्योगों का विनाश हो जाता है और शिल्पकार बेरोजगार हो जाते हैं। कृषि के व्यावसायीकरण तथा ऊँची लगान व्यवस्था के कारण छोटे कृषक भी भूमिहीन और फिर मजदूर बनने को बाध्य होते हैं। ऐसे में यदि ब्रिटिश शासन के खिलाफ रेल की पटरियाँ उखाड़ने जैसी प्रतिक्रियायें लोगों द्वारा होती हैं, तो इसे भी औपनिवेशिक सोच वाले इतिहासकार धार्मिक अंधविश्वास या भावनात्मक संबंध मसलन 'वे धरती को माँ मानते हैं' का जामा पहना देते हैं।

अंग्रेजों ने चाय और चीनी (जिसकी ब्रिटेन में भारी माँग थी) जैसे सीमित उद्योगों का विकास किया। इसके अलावा उन्होंने व्यवसायिक दृष्टि से भारी मुनाफे वाली फसल अफीम की खेती को बढ़ावा दिया। इससे अंग्रेज व्यापारी भारत से सस्ती अफीम के आयात से तथा चीन को महँगी अफीम के निर्यात से भारी मुनाफा कमाते थे। बंगाल के अतिरिक्त और कहीं से अफीम के निर्यात न हो सके इसलिए अंग्रेजों ने शेष जगहों पर अफीम के लिए काफी ऊँचा निर्यात कर लगा रखा था। यही कारण है कि अफीम का व्यापार करने वाले मारवाड़ी भी कलकत्ता में आ बसे थे और अफीम की खेती करने वाले किसानों तथा अफीम का निर्यात करने वाले अंग्रेजों के बीच सेतु का कार्य करते थे।

अफीम के व्यापार एवं भारत के आर्थिक संसाधनों के दोहन से एकत्र पूँजी से ब्रिटेन में औद्योगीकीकरण को बढ़ावा मिला। ब्रिटेन ने भारत में कच्चे माल की ढुलाई तथा शांति व्यवस्था बनाए रखने के लिए सेना के त्वरित आवागमन की सुविधा के लिए रेल का विकास किया और शोषण व्यापार को जारी रखने के लिए कलकत्ता को वाणिज्यिक राजधानी के रूप में विकसित किया था। वास्तविकता यह है कि ब्रिटेन द्वारा किसानों, मजदूरों, शिल्पकारों आदि के शोषण तथा देश के आर्थिक संसाधनों के दोहन के पैसे से कलकत्ता बना और कलकत्ता को बनाने के प्रशासनिक उद्देश्य थे।

मारवाड़ियों को अफीम के व्यापार से बने हुए धनाढ्य, रेल को भारत के विकास का सूचक एवं कलकत्ता को वैभव का प्रतीक बनाकर पेश करना, इतिहास की व्याख्या का एंकागी

दृष्टिकोण है। ऐसा अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्यवादी–उपनिवेशिवादी आर्थिक नीतियों को वैचारिक जामा पहनाने के लिए किया। उनके द्वारा ही भारत की आध्यात्मिकता का विशाल आडंबर खड़ा किया गया और भारतीय इतिहास के समूचे मध्य युग को अंधकार युग घोषित किया गया जिसकी आड़ में भारत के इतिहास की समस्त वास्तविक, भौतिक और एन्द्रिक प्रेरणाएँ ओझल हो गईं। विचार और राजनीति के घालमेल द्वारा अपने को सभ्यता और संस्कृति की सही समझ रखने वाले के रूप में समूचे संसार के सामने प्रस्तुत करना तथा शेष विश्व की सभ्यताओं और संस्कृतियों को असभ्य और बर्बर करार देना वस्तुतः समूचे यूरोप की परिपाटी रही है। आज भी इराक के तेल भंडार पर नियंत्रण की मंशा से इराक पर कब्जा करने वाला अमेरिका अपने इस अभियान को इराकी स्वतंत्रता एवं आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध की विजय के रूप में ही प्रचारित कर रहा है। दरअसल पाश्चात्य चिंतकों द्वारा इतिहास और वर्तमान की यह व्याख्या अपने साम्राज्यवादी–उपनिवेशिवादी शासन को वैधता दिलाने के उद्देश्य से की जाती है। उनकी इतिहास की व्याख्या के निहितार्थों को इसी से समझा जा सकता है कि ज्ञानोदय की सार्वभौम मनुष्यता का गुणगान करने वाले यूरोप में ही पहले उपनिवेशिवाद और अब नव उपनिवेशिवाद जैसी वैचारिक अवधारणाओं का जन्म हुआ है।

इतिहास की इस सोची–समझी त्रुटि पूर्ण व्याख्या का औपनिवेशिक देशों के चिंतन पर पड़ने वाले प्रभाव और परिणामों का जिक्र करते हुए डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल ने लिखा है कि "औपनिवेशीकरण के कारण विभिन्न समाजों के निकट अतीत और वर्तमान के बीच गहरा विच्छेद उत्पन्न हो गया। औपनिवेशिक बुद्धिजीवी को, औपनिवेशिक सत्ता को न केवल अपरिहार्य बल्कि भगवान की कृपा मानने के लिए प्रशिक्षित किया गया। अपने समाज की परंपराओं के साथ उसका संबंध न केवल असहज, बल्कि हीनता ग्रंथि से ग्रस्त हो गया। निकट अतीत को शर्मनाक और अंधकारमय मानते हुए सूदूर अतीत में स्वर्ण युग की खोज, आधुनिक संस्थाओं और विचार पद्धतियों के मूलरूप वेद या कुरान में खोज निकालने का दावा इस हीनता ग्रंथि का सबसे त्रासद रूप था।"12 इस हीनता ग्रंथि से मुक्त होने की 'वर्तमान के प्रति जिम्मेदारी' का बखूबी निर्वाह औपनिवेशिक देशों के विचारक व रचनाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से करने लगे हैं। अलका सरावगी का लेखन इसका एक प्रमाण है।

संदर्भ स्रोत :

1. अलका सरावगी, बातचीत राष्ट्रीय सहारा 23 दिसम्बर 2001

(क) एक शताब्दी की खोजः वाया एक अदृश्य आदमी

1. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन 2001, पृष्ठ–174
2. **Transitional Man (Article) - Anthony D. Smith 'Theories of Nationalism', p. 89.**
3. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–94
4. वही, पृष्ठ–100
5. वही, पृष्ठ–100
6. सत्य के प्रयोग–महात्मा गाँधी, अनुवादक : काशिनाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद–14, संस्करण अक्टूबर 2000, पृष्ठ–7
7. वही, पृष्ठ–7
8. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–95
9. वही, पृष्ठ–98
10. **Recovery of Faith- Dr.S.Radhakrishnan orient Paperbacks Ed-1992, p. 56.**
11. वही, पृष्ठ–55
12. मुझको डर आतिशे गुल से है....' (लेख)–डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल, कथादेश फरवरी 2003, पृष्ठ–32
13. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–101
14. **Frangments of A World Mind - Ram Manohar Lohia, Calcutta, 1951, Page-172**
15. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–171
16. वही, पृष्ठ–172
17. वही, पृष्ठ–173
18. खड़े रहो गाँधी– डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल, संस्कृतिः वर्चस्व और प्रतिरोध, पृष्ठ–91
19. वही, पृष्ठ–95
20. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृ. 129
21. वही, पृष्ठ–174
22. वही, पृष्ठ–174
23. सत्य के प्रयोग – महात्मा गाँधी, पृष्ठ–7

(ख) इतिहास का पुनर्पाठ

1. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–46
2. वही, पृष्ठ–44
3. कलि–कथाः वाया बाइपास–अलका सरावगी, आधार प्रकाशन, पंचकूला(हरियाणा) सं० 2001, पृष्ठ–209
4. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–52
5. कलि–कथाः वाया बाइपास–अलका सरावगी, पृष्ठ–24
6. वही, पृष्ठ–19
7. अकाल कथा– कलिकाल कथाः निर्मला जैन, हंस, अगस्त 1998, पृष्ठ–91
8. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–47
9. वही, पृष्ठ–44
10. इतिहासकार और उसके तथ्य–ई.एच.कार, 'इतिहास क्या है' अनु. अशोक चक्रधर मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, संस्करण–1979, पृष्ठ–15
11. शेष कादंबरी–अलका सरावगी, पृष्ठ–47
12. विचार का अनंत– डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ–19

अध्याय – तीन

"कथ्य और प्रविधि का खिलंदड़पन"

'शेष कादम्बरी' में अलका सरावगी ने अपने खिलंदड़ेपन वाली प्रविधि से तीन–तीन कथाओं को एक साथ पिरोया है। रूबी गुप्ता 'अपने होने की तलाश' में अपनी आत्मकथा लिखती हैं। कादंबरी रूबी गुप्ता के मामा देवीदत्त के बहाने बीसवीं सदी के भारत का विचारधारात्मक इतिहास रचती है और अलका सरावगी इन दोनों की कथा को अपनी कथा में समेकित कर रूबी गुप्ता के बहाने 'अकेलेपन' का सामाजिक विमर्श गढ़ती हैं। यह उपन्यास की प्रविधि का ही वैशिष्ट्य है कि इन तीनों कथाओं के लिखे जाने के क्रम में कोई भी कथा एक दूसरे को बाधित नहीं करती और न ही अपनी कथा–सीमा का अतिक्रमण करती है। इन तीनों कथाओं के क्रम में अनेक उपकथाएँ मूलकथा (रूबी गुप्ता की कथा) को गति प्रदान करती हैं किंतु इससे कहीं भी कथा का सहज प्रवाह बाधित नहीं हुआ है।

'एस.टी.डी. कलकत्ता से दिल्ली' और 'एस.टी.डी. दिल्ली से कलकत्ता' कथा प्रविधि के रूप में टेलीफोन का उपयोग एक नए कौशल का प्रमाण है। रूबी गुप्ता की कलकत्ता से जुड़ी दुनिया कादम्बरी से और शेष अन्य वैश्विक घटनाओं से टेलीफोन के माध्यम से ही जुड़ती है। टेलीफोन पर बातचीत के माध्यम से देश काल की दशा का पता चलता है। कादम्बरी बाड़मेर के सूखाग्रस्त इलाके से लौटकर 'मेरा भारत महान' की 'ओबिचुअरी' लिखने की सूचना रूबी गुप्ता को फोन से देती है। समकालीन अस्मितावादी विमर्श पर कादम्बरी का यह व्यंग्य कि "अब तो आप के दुख को किसी एक खास टाइप का होना चाहिए, तभी उसकी कोई कीमत है। जैसे दलित–दुख, स्त्री–दुख, सर्वहारा–दुख या 'सबाल्टर्न' दुख"[1] फोन के जरिए ही कथा का अंग बनता है। लैपटाप, ई–मेल, आदि से भद्र लेखकों का प्रतिनिधित्व करने वाली कांदम्बरी की दुनिया टेलीफोन के माध्यम से ही कथा में शामिल होती है और शेष कथा लिखने का दायित्व भी पाती है।

"एक आदमी के जीवन में ऐसा होता भी क्या है कि उस पर कोई कथा लिखी जा सके"[2] और "जीवन के एक सैंपल से किसी समय की, युग की कहानी तो नहीं कही जा सकती"[3] जैसी धारणाओं के बावजूद कादम्बरी यदि रूबी गुप्ता से अपने जीवन की कथा लिखने का आग्रह करती है– "... लेकिन आत्मकथा नहीं। कथा। फिक्शन। और वह भी थर्ड परसन"[4] में तो इसका कारण उसकी मान्यता है कि "अर्थ एक हिलती हुई इमारत है जिसे हम लिखने में खड़ा करते हैं जीवन के छुटपुट टुकड़ों से, सिद्धातों से....।"[5] आशय यह कि कांदम्बरी के लिए वास्तविकता महज प्रतीति (परसेप्शन) का मामला है। जाहिर है प्रतीति विभिन्न बातों पर निर्भर करती है। चूँकि वस्तुनिष्ठ सत्य असंभव है अतः भ्रम भी अपने आप में यथार्थ हो सकता है। उपन्यासकार की खूबी इस बात में है कि वह यथार्थ के भ्रम को रचने और उसका निर्वाह करने में किस हद तक सफल रहा है। अकारण नहीं है कि 'यथार्थ का

भ्रम' रचने की इस प्रक्रिया में व्याप्त संशय के कारण रूबी गुप्ता कांदम्बरी के बहाने पाठकों के लिए यह प्रश्न अनुत्तरित छोड़ जाती हैं कि "उनके (रूबी गुप्ता) और सविता के कष्ट की एक जाति कैसे है, क्या यह कादम्बरी समझेगी ? हलाँकि उन्होंने कथा में अपनी समझ से ठीक लिख दिया है, पर वह ठीक उसी तरह न समझ पाई तो ?"[6] रूबी गुप्ता को लगता है कि "हम किसी तरीके से, किसी उपाय से, किसी ट्रेनिंग से अपने को दूसरे की जगह रखकर नहीं देख सकते कि हम वहाँ होते तो क्या करते ?"[7] बावजूद इसके रूबी गुप्ता यदि अपनी आत्मकथा लिखती हैं तो इसकी वजह पाठकों से उनकी यह अपेक्षा है कि "जो नहीं लिखा जाता या जो नहीं लिखा जा पता वह भी कथा में छिपा बैठा रहता है– और पढ़ने वाले उस न लिखे– हुए को भी पढ़ लेते हैं।"[8] लिखे हुए और न लिखे हुए का द्वन्द्व तब और स्पष्ट हो जाता है जब लेखकीय प्रविधि कौशल के कारण कादम्बरी रूबी गुप्ता की कथा के अंदर ही उसकी समीक्षा–व्यक्तिगत किंतु व्यापक सत्य को प्रस्तुत करने की आकांक्षा– को उद्घाटित करती है। कादम्बरी की दृष्टि से रूबी गुप्ता की कथा में 'इस व्यक्ति विशेष का जीवन अपने समय, अपने जमाने, अपने खास तबके का सच बोलता है।' दरअसल, रूबी गुप्ता की कथा में कादम्बरी की समीक्षा का हस्तक्षेप रूबी दी की कथा– को एकांगीपन से बचाने का सार्थक प्रयास है। फिर भी रूबी गुप्ता के शब्दों में "कथा कथा है वह आत्मकथा नहीं है। वह जो चुनती है और जो छोड़ती है, इसके पीछे कारण दूसरे लोग यानि वे पाठक हैं, जिनके लिए वह लिखी जाती है। उन्हें जीवन को समझने के लिए जीवन का एक टुकड़ा देती है। पर वह टुकड़ा एक खास कोण से देखे हुए जीवन का होगा– उस कोण से जो सिर्फ मेरा कोण है क्योंकि मैं मैं हूँ तुम नहीं या और कोई नहीं।"[9] यही कारण है कि रूबी गुप्ता अपनी शेष कथा लिखने का दायित्व कादम्बरी को देती हैं। सच इकहरा न रह जाय इस खयाल से रूबी दी कादम्बरी को उसके अपने कोण– जैसे चाहे–कथा को देखने और उसे पूर्ण करने का भार सौंपती हैं। शायद सच जितने अधिक कोणों से देखा जाएगा उसकी तस्वीर उतनी ही मुकम्मल होगी।

यह तकनीकी खूबी है कि इस उपन्यास में मूलकथा से जुड़े हुए अपनी जड़ों से कटे पात्रों की संख्या भरपूर हैं। मि. वियेना को देखकर रूबी दी को लगता है कि "दुनिया में ऐसे लोग भी होते है जिनको जीवन में न किसी ठौर की जरूरत होती है और न ठिकाने की।"[10] रूबी दी की नातिन कांदम्बरी में भी शरणार्थी होने का भाव बहुत तीव्र है। अपनी स्थिति के बारे में वह कहती है "एक या दो तीन पीढ़ियों पहले हम कहीं और थे– सैकड़ों या हजारों मील दूर कुछ और तरह से खा रहे थे कुछ और पहन रहे थे, किसी और तरह की भाषा बोल रहे थे हम साबूत लोग नहीं हैं नानी। हम जैसे रिफ्यूजी हैं।"[11] गौरी का पति युगांडा से ईदी

अमीन द्वारा निष्कासित लंदन में शरणार्थी परिवार का लड़का था, जिसकी हर बात में नील नदी का जिक्र होता था। मेघों के देश की सुनहली रूपहली रेत को छोड़कर आए लोग भी जानते थे कि 'मिट्टी छूटने की तकलीफ क्या होती है।' रूबी गुप्ता के मामा की यायावर जिंदगी का उल्लेख हम दूसरे अध्याय में कर ही चुके हैं। तुर्की संत लाल बेंगी के अनुयायियों की जमात से संबंध रखने वाला मनोरंजन व्यापारी भी बाबरी मस्जिद ध्वंस से लेकर गणेश की मूर्ति द्वारा दूध पीने के घटनाक्रम के बीच चाट बेंचने, माली का काम करने, जूता गाँठने, गैस सिलिंडर की डिलीवरी करने, रिक्शा खीचने से लेकर ड्राइवरी करने तक कई स्थान परिर्वतन कर चुका होता है। खुद रूबी गुप्ता भारतीय समाज में स्त्री होने की नियति–विस्थापन– तो अपने जीवन में दो बार भुगत चुकी थीं। भारतीय समाज में स्त्री की इसी पीड़ा का रेखांकन महादेवी वर्मा ने इन शब्दों में किया है–

मैं नीर भरी दुःख की बदली
विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।

उमड़ने और मिट चलने की इस प्रक्रिया के बीच में रूबी गुप्ता 'अपने होने' का अर्थ खोजती हैं किंतु बार–बार उखाड़कर दूसरी जगह रोपे जाने वाले पौधे की तरह उनको एहसास होता है कि इन परिस्थितियों में मुरझाना ही उनकी नियति है। ''मैं तो न यहाँ की रही न वहाँ की। मैं कहीं की नहीं रही माँ। मैं यह अब भी भूल नहीं पाती।''[12] जैसे उनके कथन महादेवी की ही भाव संवेदना को पुष्ट करते हैं।

यह उपन्यास की प्रविधि का खुलापन ही है कि समूचे उपन्यास की मूल कथा (रूबी दी की कथा) के बीच अन्य अवांतर कथाएँ विभिन्न समस्याओं के साथ स्थान पाती हैं साथ ही समसामयिक घटनाओं पर टिप्पणी करने की छूट भी लेखिका को सहज ही सुलभ हो जाती है। सविता, सायरा, आभा जैन, फरहा और माया बोस आदि की कथाएँ रूबी दी की कथा के विस्तार क्रम में ही आती हैं। सामाजिक व्यवस्था, विज्ञापन, टीवी सीरियल, क्लिंटन की भारत यात्रा, अकाल, सूखा, प्रिंसेज डायना और मदर टेरेसा की शव यात्रा, धार्मिक रूढ़ियाँ, भारतीय राजनीति, सांप्रदायिकता, अस्मितावादी विमर्श आदि पर टिप्पणी करने की छूट लेखिका को अनायास ही उपलब्ध हो जाती है। देवीदत्त मामा की कथा के सहारे लेखिका ने हाशिए पर पड़े हुए व्यक्तियों के माध्यम से दूसरे मिलेनियम की अंतिम शताब्दी की खोज करते हुए भारत में विचाराधाराओं की स्थिति और भारतीय समाज से उसके अन्तस्संबंध को कादंबरी की रिपोर्ट के बहाने कथा में विन्यस्त किया ही है।

सूत्र वाक्य देकर उसके विस्तार में जाने की प्रवृत्ति का इस्तेमाल लेखिका ने बहुत सुन्दर ढंग से किया हैं। 'एक अदृश्य आदमी' शीर्षक के अन्तर्गत देवीदत्त मामा की कथा की शुरूआत करते हुए कादंबरी कहती है कि श्रीमान देवीदत्त को इस नई शताब्दी में याद करने का कोई महान कारण नहीं है क्योंकि "हमारे देश के लोगों को महान आत्माओं और महान कारणों, कार्यों और परिणामों की सदियों से नहीं, तो पिछले सौ साल से जरूर खोजने की आदत पड़ गई है।"[13] यदि इस कथन पर गौर किया जाय तो यह आसानी से समझा जा सकता है कि लेखिका ने इस कथन में समूचे औपनिवेशिक अध्ययन पद्धति पर टिप्पणी की है। ब्रिटिशों के विरुद्ध भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में ब्रिटिश महानायकों के बरक्स बुद्ध, राम, गुरूगोविंद, शिवाजी, राणा प्रताप आदि को प्रोजेक्ट किए जाने की पूरी परंपरा मिलती है। ऐसे नैतिक व राजनैतिक संकट के समय महानायकों का उपयोग जन सामान्य में घर कर गई हीन भावना को दूर करने के लिए किया जाता है। "भारतीय शासन नहीं कर सकते' और 'उनका कोई इतिहास नहीं है' आदि आरोपित धारणाओं की पड़ताल करने के लिए औपनिवेशिक बुद्धिजीवी अपने इतिहास और महानायकों की ओर उन्मुख होते हैं। वे इन महानायकों के चरित्र में निहित नायकत्व का उद्घाटन कर जनता की हीन मनोग्रंथि को दूर करते हैं। हालाँकि नायकों के चयन से लेकर विश्लेषण तक में विचाराधारा की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। हकीकत यह भी है कि बड़ा उद्देश्य पूर्ण होने के बाद इन महानायकों का उपयोग उनकी आभासी छवि गढ़कर क्षुद्र स्वार्थों की राजनीति में होने लगता है। राम, बुद्ध, गाँधी, अम्बेडकर आदि नायकों के विचारों, मूल्यों के साथ की जा रही राजनीति पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

रूबी दी की कथा के दौरान मिस्टर वियेना, खुद रूबी गुप्ता और कादंबरी की प्रेमकथाओं और उसकी परिणतियों का जिक्र उपन्यास में आया है। ये तीनों प्रेमकथाएँ तीन पीढ़ियों के मनोभावों को रेखांकित करती है। मिस्टर वियेना, जो रूबी दी की बुआ के प्रेमी थे; उनकी प्रेमकथा की परिणति उस दौर का प्रतिबिम्बन करती है जब भारतीय समाज में ऐसे किसी–एक अंग्रेज और एक हिंदू– के बीच संबंध असंभव की हद तक दुष्कर था। दोनों का अंत परंपराओं– रूढ़ियों की जकड़बंदी से घिरे उन मानवीय संवेदनाओं की हत्या की सूचना देता है जिसका अवकाश तत्कालीन भारतीय समाज नहीं देता था। हलाँकि रूबी गुप्ता के पिता का मि. वियेना से आत्मीय संबंध व्यवस्था की इन हदबंदियों पर पुनर्विचार के रूप में आता है। रूबी गुप्ता का आदिल से प्रेमसंबंध जहाँ एक तरफ सांप्रदायिकता की समस्या के भावूतापूर्ण समाधान का विकल्प मुहैया कराता है वहीं उसकी परिणति भारतीय समाज के उस कटु यथार्थ की ओर इशारा करती है, जिसमें ऐसे किसी समाधान की गुंजाइश लगभग नहीं

है। सकारात्मक परिवर्तन सिर्फ यह है कि जहाँ एक ओर मि. वियेना और रूबी दी की बुआ आत्महत्या की ओर अग्रसर होते हैं, वहीं आदिल और रूबी गुप्ता अपने प्रेम को सांप्रदायिक भावना की भेंट चढ़ जाने के बावजूद अपने–अपने तरीके से अपना जीवन जीते हैं। दोनों के अन्दर जीवन को खत्म कर देने या मान लेने का भाव भी नहीं आता है। कादंबरी तो अपने प्रेमी गौतम के साथ बगैर शादी के उन्मुक्त भाव से रहती है। परंपरा और मर्यादा की हदबंदियाँ जैसे उसके लिए हैं ही नहीं। पारंपरिक जीवन शैली के बरक्स कादंबरी और गौतम जीवन में कुछ कर गुजरने की ललक के साथ जीते हैं। उपर्युक्त तीनों प्रेमकथाएँ तीन पीढ़ियों के आदर्शों और मनोग्रंथियों को समेटे हुए हैं। रूबी गुप्ता अपने प्रेम को खोकर भी जीवन को नए सिरे से पारिभाषित करती हैं। कादंबरी का प्रेम एक वैचारिक समझदारी का संबंध है। उसका प्रेम संबंध उसके कैरियर के साहचर्य के रूप में विकसित होता है और इसलिए भावनाओं व विचारों में अतिक्रमण का सवाल वहाँ है ही नहीं। उपर्युक्त तीनों कथाएँ उपन्यास प्रविधि में निहित अवकाश के कारण अपना विस्तार पाती है और मूल कथ्य को सवंर्धित करती हैं साथ ही तीन पीढ़ियों के दौरान मानवीय सोच में आए परिवर्तन को लक्षित करती हैं।

देवीदत्त की कथा के बहाने लेखिका ने रूबी गुप्ता के 'अपने होने की वजह' खोजने तक सीमित न करके उपन्यास को वृहत्तर सदी–संदर्भ प्रदान करने के साथ ही सामयिक घटनाओं पर टिप्पणी कर उपन्यास की प्रविधि–सिद्धता को उजागर किया है। उदारीकरण की नई आर्थिक नीति व उद्योग नीति के 'वर्ग–विशेष' पर पड़ते असर को उषा भरतिया के शब्दों में– "अब तो सारे उद्योगपतियों की हालत देश के रजवाड़ों की तरह हो गई है। उनके पास बस जमीन–जायदादें बची हैं, उन्हें बेच–बेचकर काम चला रहे हैं विदंशी पूँजी के नाम पर सरकार ने सब चौपट कर दिया है। हर इंडस्ट्री घाटे में है"[14] – रेखांकित किया है। रूबी दी की चिंता भी इससे अलग नहीं है कि "सचमुच हर जगह कुछ तो गड़बड़ है– उनकी एक दूसरी सहेली की चीनी मिलें बंद पड़ी हैं क्योंकि सरकार ने बाहर से इतनी चीनी मँगवा ली है कि चीनी के दाम एकदम गिर गए हैं। सविता कह रही थी कि विलासपुर में उसके मामा की तेल मिल सरकार की नई नीति के कारण बंद हो गई है।"[15] देश की आधी आबादी से बहुत ज्यादा पैसे वालों का जब यह हाल है तो आम आदमी की हालत का अनुमान लगाने के लिए किसी आर्थिक आँकड़े की जरूरत नहीं हैं। रूबी दी होने वाली इस 'गड़बड़' से बखूबी वाकिफ हैं। उन्हीं के शब्दों में "शेयरों का भाव झूठमूठ में आसमान तक चढ़ाकर और फिर नीचे गिराकर कैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को बेखटके निगले जा रही हैं।"[16] रूबी दी

के इस कथन को हर्षद मेहता, केतन पारिख आदि के कृत्यों से जोड़कर कर देखें, तो शायद ही किसी और प्रमाण की आवश्यकता रह जाती है।

टेलीफोन पर बातचीत के दौरान और कादंबरी द्वारा देवीदत्त पर लिखी गई रिपोर्ट से समकालीन राजनीति पर टिप्पणी उपलब्ध होती है। इमरजेंसी के बाद की राजनीति पर टिप्पणी करते हुए देवीदत्त कहते हैं कि "रंडी की भी इज्जत होती है उसके भी कुछ उसूल होते हैं। ये लोग तो रंडियों से भी गिरे लोग हैं।"[17] सिद्धातों और विचाराधाराओं में पूर्णतः की तलाश करने वाले देवीदत्त की दृष्टि में विचारधारा और सिद्धांतविहीन वर्तमान राजनीति 'रंडी की मंडी' ही थी। क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत 'तथाकथित' समाजवादी व अंबेडकरवादी नेताओं का सत्ता के लिए फासीवादी शक्तियों के हाथ की कठपुतली बन जाने का उदाहरण और सत्ता छूटते ही सांप्रदायिकता विरोध के नाम पर पुनः सत्ताहीन होने के लिए धर्मनिरपेक्ष नेताओं की चरित्र हीनता बताने के लिए देवीदत्त द्वारा प्रयुक्त शब्द शायद कमतर ही ठहरता है। बढ़ती उम्र के नेताओं पर भी देवीदत्त की टिप्पणी गौरतलब है– "चालीस की उम्र के बाद किसी को नेतागीरी नहीं करने देनी चाहिए"[18] –क्योंकि तब तक आदमी घाघ हो जाता है और उसको समझ में आ जाता है कि आदर्शों में कुछ नहीं रखा है। वे जिन्ना का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिन्ना पहले कहा करता था कि लोकतंत्र में मुसलमानों को क्या खतरा ? उसी जिन्ना ने बाद में चलकर देश के दो टुकड़े करवाए। आज पचास साल की उम्र पार कर चुके हमारे नेता युवा–तुर्क होते हैं और सत्तर के बाद ही किसी महत्वपूर्ण पद पर उनकी दावेदारी बनती है। यदि देवीदत्त की बात को ध्यान में रखें, तो यह आसानी से समझा जा सकता है कि इन नेताओं में आदर्शों की कितनी ऊष्मा शेष रह गई होगी ? ये लालसाओं के पंक में कितने डूबे हुए हैं बजरिए उपन्यास यह उनके शरीर पर मिलने वाले ताबीजों की संख्या से जाना जा सकता है!

उपन्यास की प्रविधि कथ्य को सांप्रदायिकता की समस्या से भी जोड़ती है। रूबी दी का आदिल से प्रेम संबंध और मनोरंजन व्यापारी की व्यावसायिक यायावरी साम्प्रदायिकता की समस्या के कटु यथार्थ की ओर इशारा करती है। रूबी गुप्ता आदिल से अपने प्रेम संबंध को सांप्रदायिकता के सौहार्द्रपूर्ण विकल्प के रूप में पेश करती हैं। वे सरोजिनी नायडू की तर्ज पर इस्लाम के सौंदर्य को इनसान मात्र की प्रार्थना बनाते हुए कविता लिखा करती थीं किंतु उनके द्वारा प्रस्तुत विकल्प, उनके प्रेमकथा की परिणति स्वप्निल कल्पना की तरह सामाजिक वास्तविकताओं के तपते मरूस्थल में दम तोड़ देती है। विडम्बना है कि कुछ लोगों की सदिच्छाओं पर स्वार्थ के वशीभूत लोगों की दुर्भावनाएँ ज्यादा भारी पड़ती हैं। नफरत की जो तिक्तता लोगों की नसों में लहू बन कर दोड़ रही है वह क्या 'मुसलमान हमारे भाई हैं', जान

लेने से रूक जाएगी ? अलका सरावगी सांप्रदायिकता की इस कमजोर नस पर उँगली अपने पहले उपन्यास 'कलिकथा वाया बाइपास' से ही रखती आ रही हैं। 'कलिकथा' में सांप्रदायिक दंगों के दौरान किशोर बाबू की बदलती सोच का गवाह उनका यह कथन है कि "अब यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि मुसलमान सात पीढ़ियों पहले हिंदू थे और इसलिए हमारे भाई हैं, कैसे अमोलक ने उसे इस तरह की बेवकूफी भरी बातों पर यकीन करना सिखा दिया।"[19] खुद गाँधीवादी अमोलक की मानसिकता किशोर बाबू द्वारा अमोलक से पूछे गए प्रश्न– "क्या तुम अमजदिया होटल में खाना खा सकते हो उसी तरह जैसे हम किसी हिंदू होटल में खाते हैं ? क्या तुम्हें रत्ती भर भी घिन नहीं लगेगी ?" – के उत्तर से जाहिर हो जाती है कि– "मैं पक्के तौर पर ऐसा नहीं कह सकता।"[20] गाँधी और गाँधी के अनुयायियों का फर्क यहाँ साफ हो जाता है। इस स्थिति में तो बस यही शेर याद आता है–

न इधर उधर की तो बात कर ये बता कि कारवाँ क्यों लुटा ?
मुझे रहजनों से गिला नहीं तेरी रहबरी का सवाल है।

धार्मिक अलगाव की यह कटुता "शेष कादंबरी' में भी परिलक्षित होती है, जब सविता रूबी दी के घर में सायरा के हाथ का बना खाना खाने से इन्कार कर देती है। सुधीर का नौकर हरिहर सुधीर के एक मुसलमान दोस्त को खाना परोसने से इन्कार कर देता है। रूबी गुप्ता अपनी तमाम सदिच्छाओं के बावजूद मुस्लिम सायरा को 'सारा' संबोधन देकर ही निश्चिंत होती हैं। दरअसल, सांप्रदायिकता की समस्या के मूल में अतीत के उत्पीड़न की स्मृतियाँ इतने गहरे तक बैठा दी गई हैं कि बहुसंख्यक समुदाय को अपनी सारी समस्याओं के मूल में अल्पसंख्यक (विशेषकर मुसलमान) ही नजर आता है। इन्हीं स्मृतियों को उभारकर फासीवादी शक्तियाँ कभी सोमनाथ और कभी बाबरी मस्जिद को ढ़हाकर बहुसंख्यक समाज को अतीत के कलंक से मुक्त होने का गौरवपूर्ण एहसास कराती रहती हैं। मनोरंजन व्यापारी के बहाने लेखिका ने सांप्रदायिकता के शिकार लोगों की दर–दर ठोकरें खाने की नियति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उल्लेखनीय है कि मनोरंजन व्यापारी– जिसके पूर्वज 'कभी हिंदू रहे थे और अब आधे हिंदू लगते हैं और आधे मुसलमान'– की स्थित से पूरे मुसलमान लगने वालों की नियति का अंदाजा लगाना मुश्किल नहीं है।

'शेष कादंबरी' की प्रविधि कई बार 'कलिकथा' का ही विस्तार लगती है। अंतर सिर्फ इतना है कि 'कलिकथा' में जहाँ लेखिका को कथा को आगे बढ़ाने के लिए हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त था वहीं 'शेष कादंबरी' की कथा कादंबरी से फोन पर बातचीत और रूबी दी की स्मृति के सहारे आगे बढ़ती है। स्मृति की चलनी 'कलिकथा' में भी थी और यहाँ भी। यहाँ तक कि किशोर बाबू सशरीर 'शेष कादंबरी' की कथा से जुड़ने चले आते हैं। वे 'शेष

कादंबरी' की रूबी गुप्ता के दूर के रिश्तेदार हैं। उनकी ''पागलों की तरह तीन–तीन गाड़ियाँ होते उनमें न बैठकर सड़कों पर पैदल''[21] घूमने की सनक उनकी लड़की को परामर्श संस्था की रूबी गुप्ता से सलाह माँगने को बाध्य करती है। 'कलिकथा' के और भी कई प्रसंग ज्यों के त्यों 'शेष कादंबरी' में मिल जाते हैं। 'कलिकथा' में किशोर बाबू की विधवा भाभी की ख्वाहिश थी कि ''किशोर बाबू मेरी अर्थी को नीमतल्ला पहुँचा आएँ। औरत एक बार घर छोड़ दे तो उसे कहीं ठौर नहीं है इस धरती पर।''[22] 'शेष कादंबरी' की शकुंतला भाभी की इच्छा किशोर बाबू की भाभी से भिन्न नहीं थी। यहाँ तक कि श्मशान घाट भी वही होता है। वे (शंकुतला भाभी) कहती हैं कि ''औरत एक बार घर से बाहर कदम रख दे तो उसके लौटने का रास्ता बंद हो जाता है। मेरी तो अंतिम इच्छा यही है कि मैं अपने देवर रामबाबू और उनके कंधों पर नीमतल्ला श्मशान पहुँच जाऊँ।''[23] 'कलिकथा' में किशोर बाबू सोचकर परेशान होते हैं कि ''जब शहर में सड़क पर चलते हुए औरतों को पेशाब आता होगा, तो वे कहाँ जाती होंगीं ?''[24] 'शेष कादंबरी' में रूबी गुप्ता एक मजदूरिन को सड़क पर पेशाब करते देखकर उपहास और क्षोभ से भर जाती हैं। 'कलिकथा' के किशोर बाबू की भाभी की तरह रूबी गुप्ता के पति सुधीर की भाभी भी अपने देवर की हमउम्र रहती हैं बल्कि दोनों में अच्छी खासी दोस्ती भी रहती है। रूबी गुप्ता के पिता किशोर बाबू की तरह ''कब समय के किस खंड में चले जायेंगे और कब बिल्कुल अभी की बातें करेन लगेंगे, कोई ठीक नहीं।''[25] कहने की आवश्यकता नहीं कि 'शेष कादंबरी' के औपन्यासिक विन्यास में 'कलिकथा' की अनुगूँज बहुत दूर तक सुनाई पड़ती है।

कलकत्ता का परिवेश दोनों उपन्यासों के केंद्र में है। 'कलिकथा' में जहाँ कलकत्ता के अभिजात्य वर्ग का वैभव दिखाई देता है, वहीं 'शेष कादंबरी' उस अभिजात्य वर्ग के उजाड़ का करूण क्रन्दन है। वायसराय कप, कुक एंड केल्वी, ओल्ड कोर्ट हाउस पर हैमिल्टन के गहने या थियेटर रोड, अलीपुर रोड जैसे इलाकों में बसे कलकत्ता के रईसों की दुनिया के इर्द–गिर्द ही 'शेष कादंबरी' की कथा भी विस्तार पाती है। यह अलग बात है कि इस बार वह अभिजात्य वर्ग अपने पूरे वैभव के साथ उपस्थित नहीं है बल्कि वह वर्ग अपने खंडहरों के साथ उसका ऐंटीक बनता दिखाई पड़ता है। कलकत्ते के मारवाड़ी समुदाय और कलकत्ता शहर के इतिहास की पड़ताल 'शेष कादंबरी' में भी अभिव्यक्त हुई है। 'शेष कादंबरी' की रूबी गुप्ता संयोगवश मारवाड़ी नहीं हैं। उनकी कथा के बहाने मारवाड़ी समाज में क्रमिक रूप से आते परिवर्तन को दिखाना लेखिका का अभिप्रेत रहा है। हालाँकि किशोर बाबू की 'कलिकथा' मारवाड़ी समाज और अपने देशकाल से अधिक जुड़ी हुई है वहीं 'शेष कादंबरी' की रूबी दी के 'विस्थापन' और 'अकेलेपन' का वृतांत सार्वदेशिक व सार्वकालिक मंतव्य लिए हुए अधिक

लगता है। बहरहाल, दोनों उपन्यास की संरचना यदि डा० मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में कहें तो ''ऐसी है कि अतीत ओर वर्तमान ताश के पत्ते की तरह फेंटकर एक में मिला दिए गए लगते हैं; इसलिए उसमें से जो जब हाथ में आता है वही कथा को गति और दिशा देता है। इसमें कभी स्मृति की आकांक्षा कथा कहती है, तो कभी आकांक्षा स्मृति का आख्यान रचती है।''[26] अतीत और वर्तमान की इस आवाजाही की प्रक्रिया में कलकत्ता का इतिहास, मारवाड़ी समाज का इतिहास, और बीसवीं सदी का भारत अपनी खूबियाँ एवं खामियों के साथ प्रत्यक्ष होता है।

स्मृति की भूमिका इस उपन्यास में इतनी अधिक है कि कभी–कभी लगता है कि इस उपन्यास की प्रविधि भी रूबी दी की स्मृति की तरह एक चलनी है – ''बहुत–बहुत बारीक छेदों वाली चलनी। उस चलनी से कभी–कभी बहुत–कभी–कभी कोई बात छनकर गायब हो जाती है और फिर बरसों–बरसों बाद उनके रक्त मज्जा धमनियों में घूमती–घामती न जाने कहाँ से पुच्छल तारे की तरह प्रकट हो जाती है।''[27] सारीकथा बिना किसी पूर्वापर संबंध के रूबी दी की स्मृति के साथ बेतरतीब ढ़ंग से आगे बढ़ती है। इसी संदर्भ में मधुरेश ने लिखा है कि '' यह वर्जीनिया वुल्फ के 'मिसेज डैलोवे' और 'दि वेब्ज' वाली तकनीकी ही है जिसमें वर्तमान की कोई छोटी सी असंबद्ध घटना या वस्तु एक झटके से पात्र को उसके अतीत में पुनःस्थापित कर देती है या जहाँ सामने उमड़ती लहरों से कहीं अधिक महत्व मन के किनारों से टकराती स्मृतियों की उद्वेलित लहरों का होता है।''[28] रूबी गुप्ता छोटे–छोटे सूत्रों एवं संकेतों के सहारे चेतना में प्रवाहित स्मृतियों को पकड़ती हैं। उदाहरणार्थ – फरहा के अपने नामर्द पति के साथ रहने की जिद को रूबी गुप्ता उसकी भावुकता मानती हैं– कुछ वैसा ही प्यार जैसा हम कुत्ते–बिल्ली जैसे अपने पालतू जानवरों से करने लगते है किंतु उनके मुँह से 'पाले हुए' शब्द का निकलना उन्हें पिता की वसीयत में अपने लिए लिखे गए 'पाली हुई लड़की' से जोड़ देता है और वह अतीत के अपने स्मृतिलोक में गोते लगाने लगती हैं। बहुत मुश्किल से वे वर्तमान संदर्भ से जुड़ पाती हैं। उसमें भी स्मृति का योगदान कम नहीं है। उन्हें वासुदेव मणि की यह सीख याद आती है कि दूसरों की समस्याओं पर विचार करते समय अपने बारे में नहीं सोचना चाहिए किंतु नहीं सोचना चाह लेने से क्या सचमुच सोचना रूक पाता है? असल में रूबी गुप्ता की कथा लिखने के लिए शायद ही इससे बेहतर प्रविधि की गुंजाइश बचती है।

लेखिका ने 'शेष कादंबरी' में इतिहास व राजनीति से जुड़ी घटनाओं को प्रायः उनके व्यापक संदर्भ से मुक्त कर उसे अपने कथ्य का हिस्सा बना दिया है। वे 'पर्सनल' को 'पोलिटिकल' बनाने की बजाय 'पोलिटिकल' को 'पर्सनल'[29] बना देती हैं। उन्नीस सौ

छियालीस का कलकत्ते का हिंदू–मुस्लिम दंगा और विभाजन के समय का खून–खराबा रूबी गुप्ता और मुस्लिम युवक आदिल के प्रेम संबंध के बहाने औपन्यासिक परिदृश्य में दर्ज होता है। राजनीतिक प्रसंगों को घरेलू बनाकर पेश करने का उदाहरण उस समय और स्पष्ट नजर आता है जब रूबी दी के "पिताजी की शौकीनी और अंग्रेजियत के खिलाफ माँ ने गाँधी जी के नमक की तरह घर में चाय को मुद्दा"[30] बना दिया था। मिस्टर वियेना लाहौर की उसी कुर्सी पर बैठते थे जिस पर दुनिया का मशहूर लेखक किपलिंग बैठा करता था। श्रीलंकाई सोशलिस्ट शीला परेरा की त्रासद मृत्यु को लेखिका गौरी के अकेलेपन से संबंद्ध कर देती है। किसी महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रसंग, ऐतिहासिक घटना या तिथि को अपने पात्रों के जीवन की घटनाओं से जोड़ने की प्रविधि लेखिका इस हद तक अपनाती है कि रूबी गुप्ता के रूदन के एक प्रंसग को रवीन्द्रनाथ टैगोर की शवयात्रा में रोने वालों के साथ जोड़ देती है।

उपन्यास में प्रयुक्त भाषा पर अलका सरावगी की अद्‌भुत पकड़ है। एक सहज, संवेदनशील, अनुशासित और व्यञजक भाषा–शास्त्रीयता और अभिव्यञजकता का अनूठा मेल–समूचे उपन्यास में प्रयुक्त हुई है। कहीं कहीं गद्य की भाषा कविता की–सी कांति लिए हुए है, जिसका आवर्ती उत्कर्ष गंगा की अबाधित–अनाहत धारा के समान सर्वत्र स्वच्छंद भाव के प्रवाह की छटा विखेरता है। गद्य गीत की लयात्मकता लिए हुए भाषा कथ्य के स्तर पर साहचर्य स्थापित करते हुए चलती है। इसे 'रहस्यकथा' और तमाम स्थलों के साथ टेली पद्धति एवं पति की स्मृति करती रूबी दी के प्रसगों में विशेषकर देखा जा सकता है।

शीर्षकों में बंग्ला और समकालीन लेखकों की चर्चित कृतियों के शीर्षक 'आत्महत्या के विरुद्ध' (रघुवीर सहाय) और 'अंत में प्रार्थना' (उदय प्रकाश) का प्रयोग कथा प्रविधि का ही एक अंग है। कलकत्ता की रूबी गुप्ता और दिल्ली की कादंबरी कथा में अपने साथ अपने शहर की मानसिकता को भी समेटे हुए है। इसी तरह देवीदत्त की रपट के उल्लेख के क्रम में लेखिका ने विचारधारा को 'पेचिश' से जोड़कर एक संक्रामक बीमारी के रूप में प्रस्तुत किया है। बहरहाल, एक वसीयत से शुरू होकर एक और वसीयत पर समाप्त होने वाले उपन्यास 'शेष कादंबरी' में कथा कहने के अपने निराले अंदाज से लेखिका ने 'कलिकथा' की विशिष्ट शैली को एक नया आयाम दिया है। हालाँकि 'कलिकथा' के बाद यह तकनीकी दुहराव लगती है किंतु 'शेष कादंबरी' में यह उत्कृष्टतम रूप में और अपने आप में बेजोड़ है। बावजूद इसके लेखिका की विनम्रता 'कलिकथा' के संन्दर्भ में गौर करने लायक है कि "मुझे शिल्प का अर्थ ही पता नहीं है, कथा सिर्फ कथा है। जिसको आप प्रयोग कहते हैं, मैं तो यह सोचती हूँ कि कथा अबूझ न रह जाय। कथा के लिए फॉर्म जो है वह स्वयंभू है, वह खुद आपके लिए एक रिविलेशन है। मेरे खयाल से मेरा जो तरीका है, कई लोग कहते हैं यहाँ उसका प्रभाव है,

यहाँ इसका प्रभाव है ...मेरे लिए तो प्राथमिकता ही बहुत सरल स्तर पर किसी को कम्युनिकेट करना है।''[31]

संदर्भ स्रोत :

1. शेष कादंबरी – अलका सरावगी, पृष्ठ–91
2. वही, पृष्ठ–91
3. वही, पृष्ठ–91
4. वही, पृष्ठ–13
5. वही, पृष्ठ–21
6. वही, पृष्ठ–200
7. वही, पृष्ठ–190
8. वही, पृष्ठ–164
9. वही, पृष्ठ–147
10. वही, पृष्ठ–42
11. वही, पृष्ठ–52
12. वही, पृष्ठ–84
13. वही, पृष्ठ–93
14. वही, पृष्ठ–170
15. वही, पृष्ठ–170
16. वही, पृष्ठ–80
17. वही, पृष्ठ–62
18. वही, पृष्ठ–111
19. कलिकथाः वाया बाइपास–अलका सरावगी, पृष्ठ–172
20. वही, पृष्ठ–174
21. शेष कादंबरी, पृष्ठ–180–81
22. कलिकथाः वाया बाइपास, पृष्ठ–59
23. शेष कादंबरी, पृष्ठ–41
24. कलिकथाः वाया बाइपास, पृष्ठ–11
25. शेष कादंबरी, पृष्ठ–57

26. सरोकारों से साक्षात्कार– डा० मैनेजर पाण्डेय, साहित्य वार्षिकी, इंडिया टुडे 2002, पृष्ठ–11
27. शेष कादंबरी, पृष्ठ–72
28. महिला उपन्यासः एक बड़ी और आत्मीय दुनिया का सच–मधुरेश, कसौटी–9, पुष्ठ–155
29. नारी का उपन्यास बनाम उपन्यास की नारी– वीरेन्द्र यादव आलोचन, अक्टूबर–दिसंबर 2001, जनवरी–मार्च 2002, पृष्ठ–22
30. शेष कादंबरी, पृष्ठ–55
31. अलका सरावगी से बातचीत (गौरीनाथ), हंस जनवरी 1999, पृष्ठ–128.

और अन्त में

अपनी अपूर्णता और शीर्षक में बाणभट्ट के कादंबरी की याद दिलाने वाली अलका सरावगी की दूसरी कृति 'शेष कादंबरी' उनके पहले उपन्यास 'कलिकथाःवाया बाइपास' पर लगाए गए आरोप–स्त्री होने के नाते स्त्री चरित्रों को जानने या पकड़ने में असफल रहने– का प्रत्युत्तर जान पड़ती है। इस अर्थ में 'शेष कादंबरी' को 'कलिकथा' की पूरक कथा भी कहा जा सकता है। हलाँकि यह पूरक कथा भी अपने आप में अपूर्ण ही है।

'कलिकथा' में कम्युनिटी हिस्ट्री लिखने की आकांक्षा के बरक्स 'शेष कादंबरी' अपने में 'विस्थापन' और अकेलेपन का द्वन्द समेटे हुए है। यही कारण है कि कथा जितना बाहर की घटनाओं से प्रभावित होती है, उससे कहीं अधिक पात्रों के बीच बहस में या फोन पर होती बातचीत के माध्यम से आगे बढ़ती है। अपनी अंतिम परिणतियों में 'शेष कादंबरी' का 'अकेलापन' समाज, इतिहास, राजनीति की छवि–सामग्री के सहारे ऐसा सामाजिक मुहावरा गढ़ता है जिसमें व्यक्ति की वैयक्तिक भावना और उसकी ईमानदारी सामाजिक चेतना की निर्मिति के लिए अपरिहार्य अवयव हों। 'मिडिल एज क्राइसिस' से उपजे 'अकेलेपन' को समसामयिक संदर्भों, ऐतिहासिक प्रसंगों व घर परिवार से गुजर कर सामाजिक विमर्श में तब्दील कर देना अलका सरावगी की अपनी विशिष्टता है।

'कलिकथा' की बेबस, बेजबान, निरीह और निष्क्रिय प्रतिरोध दर्शाती स्त्री पात्रों की जगह 'शेष कादंबरी' में इन्हीं परिस्थितियों के बीच अपनी क्षमता को पहचान कर अर्जित और प्रमाणित करती हुई स्त्रियों का मॉडल अपनी पूरी संभावनाओं के साथ उपस्थित होता है। 'कलिकथा' पूरी कथा में कुछ न बोलने वाली किशोर बाबू की पत्नी, कम उम्र में विधवा हो जाने वाली उनकी भाभी, बीमार होकर भी दवा न खाने वाली बड़ी मामी, डिटेक्शन से लड़की पता चलने पर बार–बार गर्भपात कराने वाली किशोर बाबू की लड़की के बरक्स 'शेष कादंबरी' के पात्र एक बेहतर भविष्य की संभावना तो बिखेरते ही हैं साथ ही रूबी गुप्ता, सविता और कादंबरी आदि पात्रों के जरिए स्त्री समाज में क्रमिक रूप से आते सकारात्मक परिवर्तन की सूचना भी देते हैं।

गौरतलब है कि 'शेष कादंबरी' में जितने भी पात्र आए हैं, सबके भीतर कुछ–न–कुछ शेष रह गया है। रूबी गुप्ता अपनी शेष कथा लिखने का दायित्व एक वसीयत द्वारा कादंबरी को देती ही है। कादंबरी की देवीदत्त पर लिखी गयी रिपोर्ट भी अधूरी रहती है। प्रश्न यह उठता है कि जो लिखा गया वह महत्वपूर्ण है जो शेष रह गया वह ? रूबी दी की शेष कथा कादंबरी लिखेगी। 'अपने होने की वजह' खोजने का जो सिलसिला रूबी गुप्ता शुरू करती हैं, उसे पूर्णता तक पहुँचाने का दारोमदार कादंबरी पर है। एक स्त्री द्वारा अपनी अस्मिता की तलाश और उसे निरंतरता प्रदान करने का आग्रह यहाँ स्पष्ट परिलक्षित होता है। अपने कोण

से अपनी स्थिति और अपने परिवेश को परखने का मंतव्य समूची कथा में विन्यस्त ही है। रूबी दी के जीवन के निमिन्त या प्रयोजन की तरह भले ही उनकी कथा स्मृति के बियाबन में बार–बार भटक जाती है, जो कि उनके कथा के अधूरेपन का मूल कारण है; किंतु कादंबरी द्वारा देवीदत्त जैसे 'अदृश्य' आदमी की कथा का इतना सटीक चित्रण उसके उद्देश्य की स्पष्टता को इंगित करता है। जीवनभर आत्महीनता की ग्रंथि से पीड़ित रूबी दी को नई पीढ़ी की कादंबरी पर विश्वास है कि वह उनकी कथा को 'सबाल्टर्न' स्त्रियों की गाथा बना सकती है। शायद पुरानी पीढ़ी की नई पीढ़ी से यह अपेक्षा भी है और नई पीढ़ी का यह दायित्व भी है।

समग्रतः 'शेष कांदबरी' अतियों/सिद्धातों से बचते हुए रची गई स्त्री जीवन पर केन्द्रित कृति है, जो कि शिक्षा, जागरूकता, आर्थिक स्वनिर्भरता आदि को परिवर्तन कामी चेतना का आधार मानकर चलती है। यह अलग बात है कि जिस लेखकीय विज़न की व्यापकता ने 'कलिकथा' को सदी–कथा का दर्जा दिला दिया, उससे 'शेष कांदबरी' अछूती रह जाती है। इस उपन्यास के पात्रों में न तो जीवन धड़कता दिखाई देता है और न ही रूबी गुप्ता के दुख की महागाथा कहीं गहरे उतरती है। कथा को राष्ट्रीय रूपक में ढ़ालने का जो कंद्रीय अन्तर्सूत्र 'कलिकथा' में था, 'शेष कांदबरी' में वह भी अनुपस्थित है। देवीदत्त की समानांतर कथा भी उसकी क्षतिपूर्ति नहीं कर पाती है। संरचना के स्तर पर 'कलिकथा' में भाषा और कथा–लेखक की संभावनाओं के पुनराविष्कार की जो तड़प दिखाई दी थी, 'शेष कांदबरी' अपने उत्कृष्टतम् रूप में होने के बावजूद उसी का अनुकरण मात्र लगती है। कथा–वितान की भिन्नता होने पर भी 'शेष कांदबरी' की कथा कथ्य और प्रविधि दोनों के स्तर पर 'कलिकथा' से बहुत कुछ लेती है। बहरहाल, 'कलिकथा' का निःशेष 'शेष कांदबरी' में होने पर भी 'रहस्य कथा' अध्याय एक उपलब्धि की तरह है, जो जीवन का सहज राग विखेरने के साथ ही कथा–लेखिका से भविष्य में अपेक्षाएँ और बेहतर संभावनाओं के बारे में आश्वस्त करता है।

संदर्भ और सहायक ग्रंथ

सहायक एवं संदर्भ ग्रंथ

प्राथमिक स्रोत

आधार ग्रंथ

अलका सरावगी – शेष कादम्बरी
राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. नई दिल्ली 2001

संदर्भ स्रोतः

अलका सरावगी – कलिकथाः वाया बाइपास
आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा) 2001

इ. एच. कार – इतिहास क्या है
अनु. अशोक चक्रधर
मैकमिलन प्रकाशन लिमिटेड 1979

जगदीश्वर चतुर्वेदी – स्त्रीवादी साहित्य विमर्श
अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा) लिमिटेड 2000

तस्लीमा नसरीन – औरत के हक में
वाणी प्रकाशन दरियागंज दिल्ली 1995

नीता मल्ल (सं.) – आधी दुनिया
बी. एम. एन. प्रकाशन लखनऊ 2001

निर्मला जैन – कथा प्रसंग यथा प्रसंग
वाणी प्रकाशन दिल्ली 2000

पुरूषोत्तम अग्रवाल – संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध
राधाकृष्ण प्रकाशन, 1995

– विचार का अनंत
राजकमल प्रकाशन 2000

मैनेजर पाण्डेय – अनभै सॉचा
पूर्वोदय प्रकाशन नई दिल्ली 2002

महात्मा गॉधी – सत्य के प्रयोग
अनु. कशिनाथ त्रिवेदी
नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद – 14
अक्तूबर 2000

राजकिशोर (सं.) – स्त्री के लिए जगह
वाणी प्रकाशन 2000

वर्जीनिया वुल्फ – ए रूम ऑफ वन्स ओन
अनु. गोपाल प्रधान, 'अपना कमरा' शीर्षक से
संवाद प्रकाशन मेरठ 2002

सीमोन द बोउवार – द सेकेंड सेक्स
अनु. प्रभा खेतान 'स्त्री : उपेक्षिता' शीर्षक से
हिंदी पाकेट बुक्स, दिल्ली 1998

द्वितीयक स्रोत

हिंदी ग्रंथ–

अलका सरावगी – कहानी की तलाश में
आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा) 1996
दूसरी कहानी
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि
नई दिल्ली 2000

के. दामोदरन – भारतीय चिंतन परंपरा
पीपुल्स पब्लिसिंग हाउस
नई दिल्ली 1982

नामवर सिंह – इतिहास और आलोचना
राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1962
दूसरी परंपरा की खोज
राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1982

निर्मला जैन – हिंदी आलोचना – बीसवीं शताब्दी
नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली 1975

फ्रेडरिख एंगेल्स – परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति
(अनु.) नरेश 'नदीम'
प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली 2003

मधुरेश हिंदी – हिंदी उपन्यास का विकास
सुमित प्रकाशन इलाहाबाद 2001

मैनेजर पाण्डेय – साहित्य और इतिहास दृष्टि
पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली 1981
– साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादमी चंडीगढ़ 1989
रमणिका गुप्ता – आधुनिक महिला लेखन
नवलेखन प्रकाशन हजारीबाग 1995
रामचन्द्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
वीरभारत तलवार – राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य
कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियॉ
हिमाचल पुस्तक भण्डार, गॉधीनगर
नई दिल्ली 1993
सुधीश पचौरी – उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श
वाणी प्रकाशन दिल्ली 1996

अंग्रेजी ग्रंथ–

Albert Camus - Myth of Sysphes

Anthony D smith - Theory of Nationalism
Duckworth 1983
Christine Zmroczek (Ed) – Women's studies International Forum (Mag)
Vol 26, N 4 July August 2003
Devid Lodge (Ed) – Modern Criticism and theory
A READER
Longman Group U.K. Ltd, England 1988
Gerda Lerner – The Creation of feminist consciousness from
the middle age of Eighteen Seventy
Oxford University Press 1993
Jawaharlal Nehru – Glimpses of World History
London : Lindsay drummund 1947

John Kelly – Women History and theory
The Essays of John Kelly
University of Chicago Press, Chicago & London1984

Nivedita Menon (Ed.) – Gender and Politics in India
OUP Delhi 1994

Om Prakash Prasad - History of the far East : China and Japan
(c.-1840-c.1950 AD)
Bharti Bhawan (P & D) Patna 1994

Ram Manohar Lohiya - Frangments of A World Mind
Calcutta 1951

S. Radhakrishnan - Recovery of faith
Orient paperbacks, Delhi 1992

Sumit Sarkar - Modern India
Madras : Macmilla Press 1983

www.calcuttaweb.com

पत्रिकाएँ

आउटलुक – हिंदी विशेषांक, अंक–38, सितंबर 2003
– स्त्री विशेषांक, अंक 47

आलोचना – अक्तूबर–दिसंबर 2001/जनवरी–मार्च 2002

इंडिया टुडे – साहित्य वार्षिकी 2002
– अन्य अंक – सितंबर 2002, दिसंबर 2002, जनवरी 2003, जून 2003

इन्द्रप्रस्थ भारती – जनवरी – मार्च 2004

कथादेश – नवंबर 2003, फरवरी 2003

कसौटी – अंक 9,10

जनमत – जनवरी मार्च 2002

पल–प्रतिपल – अंक 46, अक्टूबर–दिसंबर 1998

साखी – अंक 9 अक्टूबर–दिसंबर 2003

साक्षात्कार – दिसंबर, 1998

हंस – अतीत होती स्त्री और स्त्री का भविष्य : खण्ड–1
जन–फरवरी 2000

– स्त्री : भूमण्डलीकरण : पितृ सत्ता के नए रूप
मार्च 2001
– अन्य अंक – जून 1994, सितंबर 1996, अगस्त 1998, जनवरी 1999, मार्च 2001, सितंबर 2003, जनवरी 2004

समाचार पत्र

राष्ट्रीय सहारा – 23 दिसंबर 2001, 18 नवंबर 2001

सहारा समय – 3 अप्रैल 2004

हिंदुस्तान – 30 दिसंबर 2001